श्रीमद्भगवद्गीता

के प्रमुख प्रश्न

- स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमुख प्रश्न

(इन प्रश्नों के साथ ही सदियों से चली आ रही अनेकानेक धार्मिक गुत्थियों का पहली बार समाधान प्रस्तुत करनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता की यथावत् व्याख्या के लिए देखें – 'यथार्थ गीता')

लेखक :

परमपूज्य श्री परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम

ग्राम-पत्रालय- शक्तेषगढ़, जिला-मिर्जापुर, उ०प्र०, भारत

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं- ५, मोगरा लेन (रेलवे सब वे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - ४०००६९

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया–चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"

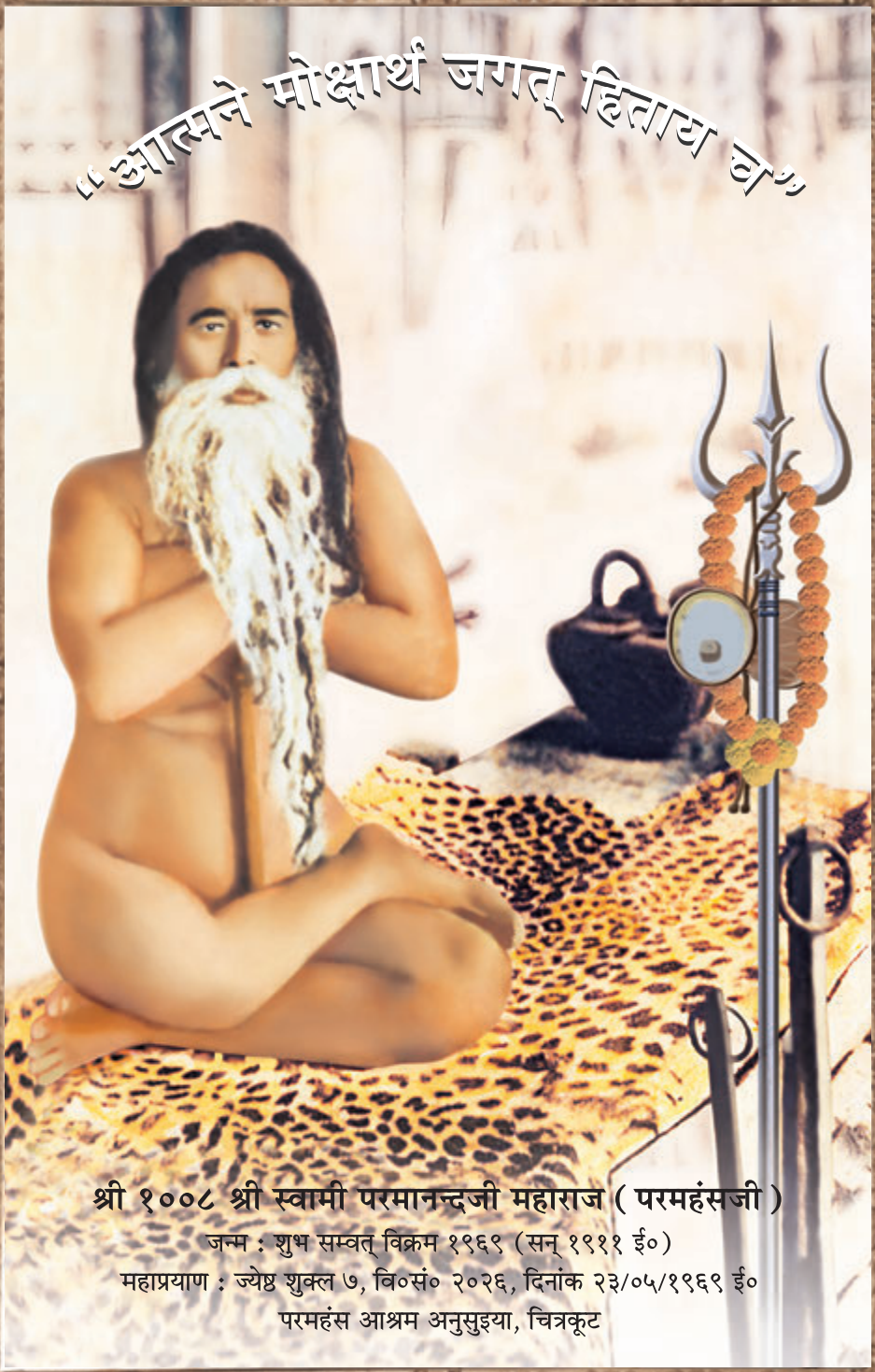

श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

विषय-सूची

क्रम	*विषय*	*पृष्ठांक*
१.	धर्म-सिद्धान्त एक	१-१४
२.	महायोगेश्वर श्रीकृष्ण	१५-२८
३.	यज्ञ	२९-४८
४.	कर्म	४९-७१
५.	गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था	७२-९०
६.	वर्णसंकर	९१-१०१
७.	ज्ञानयोग एवं निष्काम कर्मयोग	१०२-११५
८.	गीतोक्त युद्धस्थल	११६-१२९
९.	गीतोक्त युद्ध	१३०-१४५
१०.	सनातन-धर्म (हिन्दू-धर्म)	१४६-१६२
११.	भगवान कर्ता हैं या अकर्ता ?	१६३-१६७
१२.	विप्र	१६८-१७६
१३.	देवता	१७७-१८२

(श्रीमद्भगवद्गीता के इन प्रमुख प्रश्नों को आश्रमीय प्रकाशन 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' में संकलित किया गया था किन्तु यत्र-तत्र बिखरे इन प्रश्नों पर सर्वसाधारण की दृष्टि नहीं पड़ पाती थी। एक स्थल पर क्रमबद्ध इन प्रश्नों को बोधगम्य बनाने के लिए कथानकों के साथ परिवर्द्धित रूप में प्रस्तुत है यह कृति)

।। ॐ ।।

१. धर्म-सिद्धान्त – एक

१. सभी प्रभु के पुत्र–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। ***(गीता, १५/७)***

सभी मानव ईश्वर की सन्तान हैं। मनुष्य मेरा विशुद्ध अंश है, उतना ही पावन जितना भगवान; तो भेदभाव, छुआछूत कैसे?

२. मानव-तन की सार्थकता–

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। ***(गीता, ९/३३)***

सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-तन को पाकर मेरा भजन कर अर्थात् भजन का अधिकार मनुष्य-शरीरधारी को है, उन सबको है जिन्हें मनुष्य तन मिला है।

३. मनुष्य की केवल दो जाति–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।। ***(गीता, १६/६)***

मनुष्य केवल दो प्रकार के हैं– देवता और असुर। जिसके हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह देवता है तथा जिसके हृदय में आसुरी सम्पद् कार्य करती है वह असुर है। तीसरी कोई अन्य जाति सृष्टि में नहीं है। वास्तव में मनुष्य का स्वभाव इन्हीं दो प्रकारों का है। जैसी वृत्ति वैसा ही वह मनुष्य है।

४. हर कामना ईश्वर से सुलभ–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।। ***(गीता, ९/२०)***

मुझे भजकर लोग स्वर्ग तक की कामना करते हैं; मैं उन्हें देता हूँ। अर्थात् सब कुछ एक परमात्मा से सुलभ है।

माँगना ही है तो भगवान से माँगो। इन्द्र से स्वर्ग माँगेंगे तो वह कदापि नहीं देगा। जब-जब उसे लगा कि कोई महर्षि उसका पद लेना चाहते हैं तो उसने विघ्न ही डाला। किसी साधारण दुकानदार से माँगेंगे तो वह बहुत देगा मुट्ठी-दो मुट्ठी देगा। जिस दिन उसकी गद्दी माँगेंगे, वह भगा देगा; लेकिन भगवान देते हैं तो अपनी भगवत्ता ही दे देते हैं। फिर कुछ माँगने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

५. भगवान की शरण से पापों का नाश–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। ***(गीता, ४/३६)***

सम्पूर्ण पापियों से अधिक पाप करनेवाला भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा।

अतः भूल जायँ कि हम पापी हैं। एकमात्र गीता के अनुसार साधना आरम्भ भर कर दें, सब पाप समाप्त। गीता पाप का निवारण कर सहज शान्ति देती है।

६. ज्ञान–

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। ***(गीता, १३/११)***

आत्मा के आधिपत्य में आचरण, तत्त्व के अर्थरूप मुझ परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, अज्ञान है।

ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी ही ज्ञान है, इसके अतिरिक्त सब व्यर्थ की बातें हैं। संसार में जीते-खाते रहने से पहले की अर्जित

जानकारियाँ मिटती जाती हैं, नयी जानकारियाँ मिलती जाती हैं, जीवन-यापन की ये व्यवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं, ये लोकरीति हैं, ज्ञान नहीं।

७. भजन का अधिकार सबको–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। ***(गीता, ९/३०)***
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। ***(गीता, ९/३१)***

अत्यन्त दुराचारी भी मेरा भजन करके शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है एवं सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा के प्रति समर्पित है और भजन करने का अधिकार दुराचारी तक को है।

अतः यह न सोचें कि क्या भगवान हम पर खुश होंगे? केवल श्रद्धा भाव से लग भर जायँ, भगवान के प्यारे हो जायेंगे।

८. भगवत्पथ में बीज का नाश नहीं–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। ***(गीता, २/४०)***

इस आत्मदर्शन की क्रिया का स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है।

भजन-चिन्तन का बीज भर पड़ गया तो माया में कोई ताकत नहीं कि उसको नष्ट कर दे। इस जन्म में जहाँ तक साधन हुआ है, अगले जन्म में उसी बुद्धि-संयोग को अनायास प्राप्त कर लेता है, साधना पूर्ववत् आगे चलने लगती है और दो-एक जन्मों के पश्चात् व्यक्ति वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परम गति है, परम धाम है।

धर्म अपरिवर्तनशील है अर्थात् धर्म कभी बदलता नहीं और न ही उसमें संशोधन या सामयिक सुधार होता है। यह तो गीता को न जानने से लोग 'धर्म बदल गया', 'धर्म नष्ट हो गया' कहते रहते हैं। धर्म का उतार-चढ़ाव मन और बुद्धि के संयम पर निर्भर करता है; खान-पान या रहन-सहन पर नहीं!

९. ईश्वर का निवास–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। ***(गीता, १८/६१)***

भगवान ने कहा– अर्जुन! **'ईश्वरः सर्वभूतानां'**– वह ईश्वर सभी भूत अर्थात् मानव-मात्र के हृदय में रहता है। जब भगवान इतना समीप रहते हैं तो हम देखते क्यों नहीं? मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर भ्रमवश लोग भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं देख पाते। ईश्वर हृदय में है तो शरण किसकी जायँ?, उन्हें ढूँढ़े कहाँ? अगले ही श्लोक में कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। ***(गीता, १८/६२)***

सम्पूर्ण भाव से उस हृदयस्थ एक परमात्मा की शरण में जाओ। जिसकी कृपा से तू परम शान्ति, शाश्वत परम धाम को प्राप्त होगा।

और मनुष्य को चाहिये भी क्या? इसलिए भजन एक परमात्मा का ही करना चाहिए। जब ईश्वर हृदय में है तो बाहर तीर्थयात्राओं में, प्रतीकों में ढूँढ़ने से वह कैसे मिलेगा, यह केवल आरम्भिक श्रद्धास्थली है। भगवान को खोजने की जगह सबका अपना-अपना हृदय है और गीता के अनुसार खोजने का तरीका समर्पण के साथ भगवान का सुमिरन है।

१०. यज्ञ–

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। ***(गीता, ४/२७)***

सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार को, मन की चेष्टाओं को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मा में संयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं।

यहाँ आग नहीं जलती लेकिन जिस प्रकार आग में डालने से हर वस्तु भस्म हो जाती है, उसी प्रकार संयम भी अग्नि की तरह है जिससे इन्द्रियों का सारा बहिर्मुखी प्रवाह भस्म हो जाता है। यहाँ अग्नि एक उदाहरण मात्र है, आग जलाकर पूजा करने का कोई विधान गीता में नहीं बताया गया है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। ***(गीता, ४/२९)***

बहुत से योगी श्वास को प्रश्वास में हवन करते हैं और बहुत से प्रश्वास को श्वास में। इससे उन्नत अवस्था होने पर अन्य श्वास-प्रश्वास की गति रोककर प्राणायामपरायण हो जाते हैं।

इस प्रकार योग-साधना की विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। कर्म माने आराधना, कर्म माने चिन्तन। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, **'अन्यत्र लोकोऽयम् कर्मबन्धनः'**– वह कर्म इसी लोक का बन्धन है।

११. कर्म–

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। ***(गीता, ४/३२)***

इस प्रकार बहुत से यज्ञ जैसे श्वास का प्रश्वास में हवन, प्रश्वास का श्वास में हवन, श्वास-प्रश्वास का निरोध कर प्राणायाम के

परायण होना इत्यादि यज्ञ जिस आचरण से पूर्ण होते हैं, उस आचरण का नाम कर्म है। कर्म माने आराधना, कर्म माने चिन्तन! योग साधना पद्धति का नाम यज्ञ है। इस यज्ञ को क्रियान्वित करना कर्म है।

१२. विकर्म–

विकर्म का अर्थ विकल्पशून्य कर्म है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के कर्म विकल्पशून्य होते हैं। आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आप्तकाम महापुरुषों को न तो कर्म करने से कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है; फिर भी वे पीछेवालों के हित के लिए कर्म करते हैं। ऐसा कर्म विकल्पशून्य है, विशुद्ध है और यही कर्म विकर्म कहलाता है। ***(गीता, ४/१७)***

१३. यज्ञ करने का अधिकार–

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। ***(गीता, ४/३१)***

यज्ञ न करनेवालों को दुबारा मनुष्य-शरीर भी नहीं मिलता अर्थात् यज्ञ करने का अधिकार उन सबको है जिन्हें मनुष्य-शरीर मिला है। अब दुनिया में आप चाहे जहाँ जन्मे हों, गीतोक्त साधनात्मक यज्ञ करने का अधिकार आप सबको भली प्रकार है इसलिए आज से, अभी से गीता में बतायी हुई विधि से यज्ञ-साधना कर सकते हैं, जिसका परिणाम है अमृत का भोजन, सनातन ब्रह्म में स्थिति का मिलना।

१४. ईश्वर देखा जा सकता है–

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। ***(गीता, ११/५४)***

अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने, जानने तथा प्रवेश के लिये भी सुलभ हूँ अर्थात् भगवान को देखा जा सकता है। यह कोई अन्धविश्वास नहीं है। भगवान को देखनेवाले सदैव रहे हैं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। ***(गीता, २/२९)***

इस अविनाशी आत्मा को कोई विरला महापुरुष ही आश्चर्य की तरह देखता है, आश्चर्य की तरह उपदेश करता है और कोई विरला ही इसे आश्चर्य की तरह सुनता है अर्थात् यह प्रत्यक्ष दर्शन है। गीतोक्त साधन करें, स्वाध्याय करें तो आप और सबके लिए यह दर्शन सुलभ है।

१५. आत्मा ही सत्य है, सनातन है–

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। ***(गीता, २/२४)***

यह आत्मा सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। आत्मा ही सत्य है। यदि उस सनातन के प्रति हम श्रद्धावान् नहीं है तो अभी हम सनातनधर्मी नहीं हैं। सनातन धर्म के लिए यदि विकल हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं।

१६. विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। ***(गीता, ८/१६)***

ब्रह्मा और उससे निर्मित सृष्टि, देवता और दानव दुःखों की खानि, क्षणभंगुर और नश्वर हैं। इनमें से कहीं पूजा करना आरम्भ की तो

आप नश्वर की पूजा कर रहे हैं। अत: पूजा एक परमात्मा की करनी चाहिए।

१७. देव-पूजा–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। ***(गीता, ७/२०)***

कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है, ऐसे मूढ़बुद्धि ही परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। ***(गीता, ९/२३)***

देवताओं को पूजनेवाला मेरी ही पूजा करता है; किन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक है, इसलिये नष्ट हो जाता है।

अपनी समझ से तो आदमी सर्वशक्तिमान को ही ढूँढ़ रहा है, उसे विधि नहीं मालूम है, अविधिपूर्वक है इसलिए उसका पूजन व्यर्थ चला जाता है, वह नष्ट हो जाता है।

१८. शास्त्रविधि का त्याग–

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।। ***(गीता, १७/४)***

भगवान ने कहा– अर्जुन! यह पुरुष श्रद्धामय है। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसमें श्रद्धा न हो। यही कारण है कि शास्त्रविधि को त्याग कर भजनेवाले सात्त्विकी श्रद्धावाले देवताओं को, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों को और तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं; किन्तु–

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। ***(गीता, १७/६)***

वे शरीररूप से स्थित भूतसमुदाय और अन्तर्यामी रूप में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाले हैं। उनको तू असुर जान। अर्थात् देवताओं को पूजनेवाले भी आसुरी वृत्ति के अन्तर्गत हैं। इन सबको असुर ही समझो। 'अ' माने 'नहीं', 'सुर' माने 'देव'; अर्थात् वे परम देव परमात्मा के देवत्व से वञ्चित हैं। उन्हें परमात्मा से विपरीत दिशा वाला समझो–इतना ही आशय है! असुर का मतलब यह नहीं कि लम्बे-लम्बे दाँतों या बड़ी सींगोंवाले कोई विचित्र जीव होते होंगे।

१९. अधम–

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। ***(गीता, १६/१९)***

जो यज्ञ की नियत विधि छोड़ कल्पित विधियों से यजन करते हैं वे ही क्रूरकर्मी, पापाचारी तथा मनुष्यों में अधम हैं। अन्य कोई अधम नहीं है। 'साधना है नहीं, और कहते हैं कि यही साधना है'– ऐसे दम्भाचारी ही अधम हैं।

२०. नियत विधि क्या है?–

गीता (८/११-१३) में है– **'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'–** प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिस पद को अविनाशी कहते हैं, वीतराग महात्मा जिसमें प्रवेश के लिए यत्नशील रहते हैं, जिसे चाहनेवाले ब्रह्मचर्यादि कठोर व्रतों का पालन करते हैं वह पद मैं तुझे संक्षेप से कहूँगा। इन्द्रियों के सम्पूर्ण दरवाजों को संयमित कर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, योगविधि से अन्त:करण के व्यापार को निरुद्ध कर जो पुरुष 'ॐ'- जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, इसका जप तथा मुझ एक परमात्मा का ध्यान करते हुए **'त्यजन्देहं'**– देहाध्यास का त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। यदि शरीर-त्याग का अर्थ देहान्त होता तो परमगति कौन प्राप्त करता? जब तक गुण है,

संस्कार हैं, एक शरीर के बाद दूसरा मिलता है। मन के निरोध के साथ ही शरीरों का त्याग इसी जीवन में प्राप्त किया जाता है।

२१. धर्म–

गीता का प्रथम प्रश्न धर्म है। अर्जुन कुल-धर्म, जाति-धर्म इत्यादि के विनाश की आशंका से व्यथित था। किन्तु भगवान ने समाधान करते हुए कहा– **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** ***(गीता, २/१६)***– अर्जुन! असत वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत का तीनों कालों में अभाव नहीं है। परमात्मा ही शाश्वत, परम सत्य, अजर, अमर, अपरिवर्तनशील और सनातन पुरुष है; किन्तु वह परमात्मा अचिन्त्य है, चित्त की तरंगों से परे है। चित्त का निरोध करके उस सनातन परमात्मा को पाने की विधि विशेष का नाम यज्ञ है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है; और इस कर्म का आचरण ही धर्म है, आपका दायित्व है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।। ***(गीता, १८/६६)***

धार्मिक उथल-पुथल को छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा अर्थात् एक भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण ही धर्म का मूल है, उस प्रभु को पाने की नियत विधि का आचरण ही धर्माचरण है (अध्याय २, श्लोक ४०) और जो उसे करता है वह अत्यन्त पापी भी शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है (अध्याय ९, श्लोक ३०)।

२२. शास्त्र–

गीता (अध्याय १२/२०) में है– **'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।'**– इस धर्ममय अमृत का जैसे-जैसे कहा गया, ठीक वैसा ही श्रद्धा से युक्त और मेरे परायण होकर जो आचरण करता है वह भक्तों में भी अति उत्तम भक्त मुझे मान्य है। स्पष्ट हुआ कि पूरी

की पूरी गीता धर्ममय अमृत है, अमृत तत्त्व आत्मा को विदित करानेवाला शास्त्र है। गीता (अध्याय १५/२०) में भगवान ने कहा कि **'इति गुह्यतमं शास्त्रं'**–यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तुम लोक में समृद्धि और कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर लोगे। गीता के अतिरिक्त अन्य कोई विधि नहीं है। गीता (अध्याय १६/२३) में है कि इस शास्त्र में निर्दिष्ट विधि को त्यागकर जो अन्य-अन्य विधियों से भजते हैं उनके जीवन में न सुख है, न सिद्धि है, न परम गति ही है। वह इन सबसे भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् परमात्मा को पाने की अन्य कोई विधि नहीं है। इसलिए भगवान कहते हैं कि **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'** ***(गीता, १६/२४)***– इसलिए अर्जुन! तुम्हारे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में यह शास्त्र ही प्रमाण है। अस्तु, गीता प्रभु के श्रीमुख की वाणी व मानव का आदि धर्मशास्त्र है।

२३. धर्म प्राप्त कहाँ से करें?–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। ***(गीता, १४/२७)***

उस अविनाशी ब्रह्म का, अमृत का, शाश्वत-धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् परमात्मस्थित सद्गुरु ही इन सबका आश्रय है।

२४. आहार–

गीता (१७/८-१०) के अनुसार आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाला रसयुक्त, चिकना और स्थिर रहनेवाला, स्वभाव से प्रिय लगनेवाला भोज्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है। कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे,

दाहकारक, दु:ख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजसी पुरुष को प्रिय होते हैं। देर का बना हुआ, **'गतरसं'**– रसरहित अर्थात् शरीर को जिन रसों की आवश्यकता है उनसे रहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट अर्थात् जूठा और अपवित्र भोजन तामसी पुरुष को प्रिय होता है।

अत: भोजन के लिए कहीं किसी खाद्य पदार्थ को उचित-अनुचित कहने की आवश्यकता नहीं है। जलवायु, परिवेश, तथा देश-काल के अनुसार जो भोजन उपलब्ध हो, स्वभाव को प्रिय तथा जीवनीशक्ति प्रदान करनेवाला हो, वही उचित है। वस्तु सात्त्विकी, राजसी या तामसी नहीं होती, उसका प्रयोग सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी होता है।

साधन-परायण पुरुष के लिए गीता का निर्देश है कि **'युक्ताहार विहारस्य'** ***(गीता, ६/१७)*** अर्थात् उचित आहार, आवश्यक शारीरिक परिश्रम, कर्म अर्थात् नियत कर्म आराधना में भरपूर समय देना, यथोचित शयन एवं जागरण आवश्यक है। महापुरुषों के भोजन की व्यवस्था भगवान स्वयं निश्चित करते हैं।

२५. वर्ण–

गीता का उद्घोष है कि परमात्मा ही परम सत्य है, शाश्वत है और सनातन है किन्तु वह अचिन्त्य है अर्थात् चित्त की तरंगों से परे है। इस चंचल चित्त का निरोध कर सनातन परमात्मा को पाने की विधि को गीता में यज्ञ कहा गया है। इस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है और इस नियत कर्म का आचरण ही धर्म है।

इसलिए कर्म अर्थात् साधन-पथ को साधक के स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है जिसका नाम

वर्ण है। इस कर्म को समझकर साधन आरम्भ करनेवाला आरम्भिक अवस्था में शूद्र है अर्थात् अल्पज्ञ है किन्तु भाग्यशाली भी है क्योंकि इस जगत्रूपी रात्रि में जहाँ सभी अचेत पड़े हैं, वह जग गया है, ईश्वर-प्राप्ति के लिए क्रियाशील है।

साधन उन्नत होने पर वह आत्मिक सम्पत्ति, जो आपकी स्थिर सम्पत्ति है, उसके संग्रह की क्षमतावाला हो जाता है। विवेक, वैराग्य और संयम के द्वारा इन्द्रियाँ सुरक्षित होती जाती हैं तो वह वैश्य है। अनन्त इच्छाओं और वासनाओं से इन्द्रियाँ असुरक्षित होती हैं। यह गोरक्षा वैश्य श्रेणी के साधक को करना होता है।

जहाँ संयम और सधा, तो तीनों गुणों के पट-पसार को काटने की क्षमतावाला हो जाता है, क्षत्रिय कहलाता है। उस समय साधना भगवान के वरद्हस्त के नीचे पहुँच जाती है, मन की लगाम भगवान के हाथ में होती है, भगवान उठाते-बैठाते, भजन पढ़ाते, बाधाओं से सुरक्षित करते हुए साधक को आगे बढ़ाते हैं। भगवान साधक को आश्वस्त करते जाते हैं कि अर्जुन! निश्चिन्त रहो, मेरे द्वारा मारे हुए इन शत्रुओं को मार। कार्य मैं करूँ, यश तू प्राप्त कर। वह भूल करना भी चाहेगा तब भी भगवान उसे करने ही नहीं देंगे।

इससे उन्नत अवस्था होने पर जब अन्तिम विकार भी शान्त हो गया, शम, दम, तप, शौच इत्यादि सारी योग्यताएँ उसके स्वभाव में ढल गयी होती हैं तब ब्राह्मण श्रेणी का कर्म उसके स्वभाव में ढल जाता है। वास्तविक जानकारी, अनुभवी उपलब्धि, बुद्धि केवल यन्त्रमात्र रह जाती है, वह ब्राह्मण है।

इस प्रकार वर्ण आत्मदर्शन की साधना में भजन जागृति के पश्चात् एक साधक की क्रमोन्नत श्रेणियाँ हैं। भगवत्-स्वरूप में विलय प्राप्त कर लेने के पश्चात् दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और स्थिति के पश्चात् वह

ब्राह्मण भी नहीं रह जाता; तत्त्वदर्शी, तथागत तथा भगवद्-स्वरूप में स्थित हो जाता है।

साधना की अन्त:क्रिया से बाहर समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में प्रचलित जातियाँ गीता का वर्ण नहीं हैं, सामाजिक व्यवस्था मात्र हैं। इनकी स्थिति में उतार-चढ़ाव देश-काल और परिस्थिति के अनुसार आता ही रहा है। कभी ब्राह्मणों को आरक्षण मिला तो कभी शूद्रों को, किन्तु गीता के वर्णों में पक्षपात का कोई स्थान नहीं है। गीता के वर्ण साधना के शाश्वत सोपान हैं।

नोट- विश्व के सारे धर्मों की सत्यधारा 'गीता' का ही प्रसारण है।

।। ॐ ।।

२. महायोगेश्वर श्रीकृष्ण

आर्ष-ग्रन्थों में भगवान श्रीकृष्ण का परिचय एक योगी के रूप में मिलता है। महाभारत का प्रसंग है। धर्मात्मा पाण्डव कौरवों के षड्यन्त्र से द्यूत में इन्द्रप्रस्थ हार गये। चक्रवर्ती सम्राट युधिष्ठिर भाइयों और द्रौपदी के साथ वन की ओर चले। आधा दिन तो नगर से विदाई में ही बीत चला था। वन में प्रवेश के साथ ही घना अँधेरा छा गया। जिस जलाशय की ओर जाना था, अभी काफी दूर था। अंधेरे में वे अंदाज से धीरे-धीरे बढ़ते ही जा रहे थे, इतने में मशाल लिये एक भयंकर व्यक्ति मिला। युधिष्ठिर ने उससे पूछा– ''भाई! जलाशय कितनी दूर है? मैं युधिष्ठिर और मेरे भाई भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी यहाँ वनवास के लिए आये हुए हैं।'' वह था किर्मीर राक्षस। उसने कहा– ''ओह! मेरे भाई बकासुर का हत्यारा भीम! मैं कब से तुम्हें ढूँढ़ रहा था। आज मिले हो! अब मैं तुम्हें मारकर अपने भाई का बदला लूँगा।''

मशाल रखकर उसने एक वृक्ष उखाड़ा और भीम पर टूट पड़ा। भीम भी कौरवों के छल-प्रपञ्च से जला-भुना था, क्रोध में उबल रहा था। उसने किर्मीर को मसलकर मार डाला। उसी की मशाल लेकर पाण्डव आगे बढ़े, जलाशय के किनारे पहुँचे और रातभर में ही एक झोपड़ी तैयार कर ली। जब सब व्यवस्थित हो गये तो युधिष्ठिर लगे रोने! वह कहने लगे कि मैं ही सबके दु:ख का कारण हूँ। न मैं जुआ खेलता, न यह विपत्ति आती।

अर्जुन ने उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए कहा– भय्या! आप शोक न करें। श्रीकृष्ण हमारे साथ हैं। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए अर्जुन ने कहा कि मैंने महर्षि व्यास से सुना है कि आप पिछले दस जन्मों से लगातार साधु रहे हैं। एक कल्प में आप 'यत्र सायं-गृह मुनि' के रूप में विचरण करते थे। जहाँ शाम हो गयी, वहीं घर। खुले आकाश के नीचे विचरण करके शाम हो गयी या वृक्ष के नीचे, किसी मंदिर में या बस्ती में, यत्र सायं तत्र गृह!

आप निस्पृह भाव से मौन होकर विचरण करते रहे। एक कल्प में आप प्रभास क्षेत्र में क्षेत्रीय जनता को उपदेश करते हुए भ्रमण करते रहे। एक कल्प में आप पुष्कर तीर्थ में एक पाँव पर खड़े रहकर बारह वर्ष तक यज्ञ करते रहे (जैसा कि गीता में है– **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'**– यज्ञों में सर्वोपरि जप-यज्ञ है; **'संयमाग्निषु जुह्वति'**– बहुत से योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को योगाग्नि, संयमाग्नि, ज्ञानाग्नि में हवन करते हैं। अर्जुन! भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ, वेदी बनाकर स्वाहा बोला जानेवाला यज्ञ अति अल्प हैं, चाहे आप करोड़ों का हवन कर लें। वस्तुत: सम्पूर्ण यज्ञ मन और अन्त:करण की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं।) एक कल्प में आप बद्रीनाथ क्षेत्र में नारायण ऋषि के रूप में निवास करते थे। एक कल्प में आप ही विष्णु थे, भगवान भी कहलाये। एक कल्प में आपने वामन के रूप में अवतार लिया, लेकिन थे अधूरे। इस कल्प में परम तत्त्व का स्पर्श कर परम भाव में स्थित साक्षात् परमात्मा आप हमारे साथ हैं। हमें आपका ही सहारा है। स्पष्ट है कि भगवान श्रीकृष्ण अनेक जन्मों से साधना में लगे हुए महान योगेश्वर थे।

दुर्योधन पाण्डवों के अहित-चिन्तन में लगा ही रहता था। उन्हीं दिनों अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध तपोधन दुर्वासा हस्तिनापुर पधारे। वह आते ही बिगड़ पड़े– ''क्यों कुरुवंशियो! तुमलोगों के अन्दर कोई श्रद्धा दिखाई नहीं देती?'' दुर्योधन भुनभुनाया कि इन महात्माओं ने तो नाक में दम कर रखा है। शकुनि बोला– ''नहीं भांजे! ये महात्मा बड़े काम के होते हैं। श्राप तो इनकी नाक पर रहता है। इनकी अभ्यर्थना करो।'' दुर्वासा बोले– ''यह क्या बड़बड़ कर रहा है?'' शकुनि ने कहा– ''भगवन्! यह कह रहा है कि हमारे भाई पाण्डव होते तो आज आपका दर्शन और सेवा कर धन्य हो जाते। वे लोग समीप के वन में हैं। उन्हीं के लिए यह दु:खी है।'' दुर्वासा ने कहा– ''ओह! ऐसा भातृस्नेह देखकर हमें प्रसन्नता हुई। हम आज ही उन पर भी कृपा करेंगे।'' अपने शिष्यमंडली के साथ दुर्वासा वन में युधिष्ठिर की ओर

चल पड़े। दुर्योधन बहुत खुश हुआ कि जंगल में साधनहीन पाण्डव अचानक इतने महात्माओं के भोजन की व्यवस्था कैसे कर पायेंगे, क्रोधी महर्षि के शाप से कैसे बचेंगे? अब तो उनका विनाश निश्चित है।

महर्षि को देखकर भाइयों सहित युधिष्ठिर ने प्रणाम किया। दुर्वासा ने कहा– ''राजन्! हम स्नान-संध्या कर आते हैं, तब तक आप हमारे भोजन का प्रबन्ध करें।'' शिष्यों के साथ वह स्नान-ध्यान के लिए चले गये। युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा। द्रौपदी ने कहा–''आप सबके भोजन के उपरान्त मैंने भगवान सूर्य का दिया हुआ अक्षय पात्र स्वच्छ करके रख दिया है, अब तो रात्रि में ही उससे भोजन मिल सकता है।'' युधिष्ठिर ने कहा–''तब तो महर्षि दुर्वासा के शाप से बचना असम्भव है।''

संकट की इस घड़ी में द्रौपदी ने भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया– ''प्रभो! जैसे आपने कौरव-सभा में मेरी लाज रखी, वैसे ही यहाँ भी रख लें। तब तो आपकी कृपा से हम बच गये थे, अब बचना कठिन लग रहा है।'' वह लगी स्मरण करने कि ''प्रभो! रक्षा करें। इन महात्माओं को कहाँ से खिलाऊँ?'' इतने में भगवान श्रीकृष्ण रथ से आते हुए दिखाई पड़े। वह आते ही बोले– ''द्रौपदी! बड़े जोर की भूख लगी है, तुम्हारे अक्षय पात्र में कुछ हो तो खिलाओ।'' द्रौपदी ने कहा– ''भगवन्! अब आप भी लगे हम सबका उपहास करने। अक्षय पात्र तो मैंने स्वच्छ करके रख दिया है, अब उससे भोजन कैसे मिलेगा?'' भगवान ने कहा– ''अक्षय पात्र लाओ, देखते हैं!'' उन्होंने देखा, कोने में एक चावल पड़ा रह गया था। भगवान ने कहा– ''इतना बहुत है द्रौपदी! इससे तो सारी सृष्टि तृप्त हो जायेगी।'' कहते हुए उन्होंने वह चावल अपने मुख में डाल लिया। जलाशय में स्नान करते हुए महात्माओं को डकारें आने लगीं। दुर्वासा ने शिष्यों से कहा– ''आज तो पेट कुछ अधिक ही भर गया लगता है।'' शिष्यों ने कहा– ''हाँ भगवन्! भोजन के लिए तनिक भी जगह नहीं है।'' महर्षि ने कहा–

''युधिष्ठिर का भाई भीम बुलाने आता ही होगा तो वहाँ क्या खायेंगे? ऐसा करते हैं, चलो निकल चलें।'' वह शिष्य-मण्डली के साथ चुपचाप खिसक गये। विलम्ब होने पर युधिष्ठिर ने कहा– ''महात्मागण अभी आये नहीं। नकुल देखो तो!'' भगवान ने कहा– ''भय्या, रहने दें। वे विचरणशील महात्मा किसी अन्य के अतिथि हो गये होंगे। अब अपना कुशलक्षेम बताइए।'' भगवान ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा– ''राजन्! किसी परिस्थिति से घबराना नहीं चाहिए। यह वनवास भी आप सबका साधना-पथ है। देखते नहीं हो, मेरे जीवन में भी कितने उतार-चढ़ाव आये। पूतना, अघासुर, बकासुर, कंस मामा; तत्पश्चात् जरासंध, कालयवन।....'' अर्जुन ने कहा– ''केशव! अब तो आप ही का आसरा है।'' भगवान ने उन सबको धैर्य बँधाया और आगे बढ़ गये। इस कथानक में भी भगवान् श्रीकृष्ण का योगैश्वर्य विदित होता है।

जा घर लक्ष्मी झाड़ू देत हैं, सम्भु करें कोतवाली।
ता घर ब्रह्मा भये टहलुवा, विष्णु करें रखवाली।
तवन घर चेतिहे रे भाई! तोहरा आवागमन मिटि जाई!

भगवत्स्वरूप में स्थिति के पश्चात् महापुरुषों के यहाँ यह व्यवस्था स्वत: हुआ करती है। यही योगेश्वर के लक्षण हैं। भगवान श्रीकृष्ण एक योगी थे।

आइये, गीता के आलोक में भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप देखें–

प्रश्न– महाराजजी! कुछ लोग कहते हैं कि रास रचानेवाले श्रीकृष्ण और गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न थे। दोनों एक हो नहीं सकते। कुछ लोग कहते हैं, वे मनुष्य नहीं बल्कि सोलह कला के पूर्ण अवतार थे, साक्षात् भगवान थे। वास्तव में श्रीकृष्ण कौन थे?

उत्तर– श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व विवाद का शीर्षक बना हुआ है। यादव लोग उन्हें अपनी बिरादरी का मानते हैं, नृत्य-संगीत विशारद उन्हें अपना

प्रणेता कहते हैं, अंग्रेज उन्हें कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं, तो भारत की अधिकांश जनता उन्हें भगवान के रूप में पूजती है अतः आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि श्रीकृष्ण कौन थे?

वस्तुतः श्रीकृष्ण महायोगेश्वर हैं, भगवान हैं। योग ही वह क्रिया है जिस पर चलकर साधक परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। उसी समय वह भगवान के ऐश्वर्य की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करता है। **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(मानस, २/१२६/३)*– भगवान को जानते ही योगी भी योगेश्वर हो जाता है, भगवान हो जाता है। उसका सेवक एवं जीव-भाव तिरोहित हो जाता है और स्वामी ही सदा-सदा के लिए शेष बचता है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्यादि ऋचाओं में इसी रहस्य की अभिव्यक्ति हुई है।

१– गीता के सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि अनेक जन्मों के पश्चात् अन्त के जन्म में तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी मेरा साक्षात् स्वरूप है-

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। *(७/१८)*

ज्ञानी तो मेरा साक्षात् स्वरूप ही है, भगवन्मय है क्योंकि वह मेरे में ही अच्छी प्रकार स्थित है। ऐसे ज्ञानी भक्त और श्रीकृष्ण की स्थिति में कोई अन्तर (श्रीकृष्ण के शब्दों में) नहीं है। अतः कहना न होगा, श्रीकृष्ण महायोगैश्वर्यप्राप्त महात्मा ही थे और तत्त्वज्ञ महात्मा भगवान होता है। भक्ति के द्वारा कोई भी मनुष्य भगवान की महिमा को व्यक्त कर सकता है।

२– महात्मा श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में यत्र-तत्र सर्वत्र अपना परिचय दिया है। टीकाओं में न जाकर योगेश्वर श्रीकृष्ण की मूलवाणी पर दृष्टिपात करें तो श्रीकृष्ण के स्वरूप को लेकर भ्रान्ति नहीं होगी। गीता के तीसरे

अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण बताये और फिर ऐसे महात्माओं के समकक्ष अपने को भी घोषित किया। वे कहते हैं- जो पुरुष मेरे द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म को नहीं करता (उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण केवल आराधना को ही कर्म मानते हैं- **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।** ***(गीता, ३/९)*** वह पापायु पुरुष व्यर्थ जीता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, तृप्त तथा सन्तुष्ट है, उसके लिए कर्म की अर्थात् आराधना की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुष द्वारा कर्म को किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से हानि ही है। इस स्थिति को बिना कर्म किये कोई नहीं पाता। जनक इत्यादि भी इसी कर्म (आराधना) को करके परमसिद्धि को प्राप्त हुए। ऐसे पुरुष केवल लोकशिक्षण अथवा लोक-कल्याण के निमित्त ही स्वयं कर्म में बरतते हैं।

इतना कहने के पश्चात् श्रीकृष्ण ऐसे महात्माओं से अपनी तुलना करते हैं-कौन्तेय! मुझे भी प्राप्त होने योग्य किंचित् मात्र वस्तु अब अप्राप्य नहीं है अर्थात् मैं भी आत्मतृप्त हूँ। महात्माओं की ही तरह मुझे भी अब कर्म करने की आवश्यकता नहीं है फिर भी पीछेवालों के हित की इच्छा से मैं भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने महापुरुषों से अपनी तुलना करते हुए संकेत किया कि वे भी भगवद्स्वरूप को प्राप्त महापुरुष हैं।

३- दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह आत्मा अपरिवर्तनशील, न सूखनेवाली, न जलने-गलनेवाली, नित्य, व्यापक, अचल और सनातन है। इसी आत्मा को साक्षात् जानना ही सनातन-धर्म है। किन्तु ऐसी आत्मा सबमें है तो खोजा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। साधारण लोगों को आत्मा के ये गुणधर्म दिखाई नहीं पड़ते। प्रायः शोक, सन्ताप और मृत्यु का कारण इच्छा और राग-द्वेष ही दिखाई पड़ते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण आत्मा को उपरोक्त विभूतियों के साथ जानते हैं अतः वे तत्त्वदर्शी महापुरुष हैं, योगेश्वर हैं।

४- अध्याय चार में कर्म एवं उसके परिणामस्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया सीखने के लिए निर्देश दिया- अर्जुन! तत्त्वदर्शी महात्मा की शरण में जाओ। उन्हें दण्ड-प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, वे तुझमें ज्ञान और साधन जागृत करेंगे। वस्तुतः अनुरागी ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण ने भविष्य में आनेवाली पीढ़ी, योग-परम्परा एवं होनेवाले साधकों का ध्यान अपने शास्त्र में रखा। वे जानते थे कि आज तो यह अनुरागी मेरी शरण में है किन्तु हजारों वर्ष पश्चात् भविष्य में जो अनुरागी होंगे, वे किसकी शरण लेंगे? अतः अनुरागियों को उन्होंने तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाने की सलाह दी। पहले तो अर्जुन को तत्त्वदर्शियों के पास जाने को कहा। जब स्वयं भगवान ही सामने खड़े थे तो तत्त्वदर्शियों की शरण में जाने को क्यों कहा? क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं योगेश्वर हैं। अठारहवें अध्याय में सबके हृदय में ईश्वर का निवास बताते हुए उस ईश्वर की शरण में जाने को कहा और अन्त में **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'** *(गीता, १८/६५)*- अपनी शरण में आने को कहकर स्पष्ट कर दिया कि तत्त्वदर्शी महात्मा और श्रीकृष्ण का स्तर एक ही है।

५- अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जो तत्त्व से जानता है वह मुझे ही प्राप्त होता है और ऐसे बहुत से पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं- **'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।'** *(गीता, ४/१०)*- बहुत से तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीकृष्ण के भाव को प्राप्त हो चुके हैं। इसे और स्पष्ट कहा जाय तो कहना होगा- श्रीकृष्ण भी परमात्म भाव को प्राप्त महायोगेश्वर हैं।

६- चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं, **'चार्तुवर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँट दिया? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं, **'गुणकर्मविभागशः'** *(गीता, ४/१३)*- गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बाँटा। योगेश्वर श्रीकृष्ण आराधना को

ही कर्म मानते हैं जिसके द्वारा परमतत्त्व परमात्मा तक की दूरी तय होती है। श्रीकृष्ण ने इसी चिन्तन-क्रम को गुणों के आधार पर चार सोपानों में बाँटा और कहा कि इनके कर्ता मुझ अव्यक्त स्वरूप को अकर्ता ही जान। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आप करते हैं फिर भी अकर्ता कैसे बने रहते हैं? कर्मों से आप लिपायमान क्यों नहीं होते? श्रीकृष्ण समाधान करते हैं कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। कर्मों अर्थात् आराधना का फल है शाश्वत परमात्मा में विलय। परमात्मा अलग होता तो कदाचित् स्पृहा भी होती; किन्तु वह परमात्मा भी मुझसे विलग नहीं है अतः कर्मों में मेरी स्पृहा भी नहीं है। जिस भोजन को आप करते हैं उससे भी श्रेष्ठ भोजन देखकर खाने की इच्छा अवश्य होगी; किन्तु परमात्मा से श्रेष्ठ, जिससे आगे कोई सत्ता है ही नहीं, वह हमें प्राप्त है तो हम ढूँढ़े किसे? इसलिए उनकी स्पृहा नहीं है।

इतना ही नहीं, उपर्युक्त योग्यता के साथ जो भी मुझे जानता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। **'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।'** *(गीता, ४/१५)*- पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने यही जानकर कर्म का आचरण किया। अर्जुन! तू भी इसी प्रकार कर तो कर्मों से नहीं बँधेगा। जैसे श्रीकृष्ण वैसा ही अर्जुन या कोई भी इस स्तर से जानने वाला साधक बन सकता है। अतः श्रीकृष्ण परम तत्त्व परमात्मा, भगवान, महायोगेश्वर या जो कुछ भी रहे हों, वह स्थान आप सबके लिए भी सुलभ है।

७- अध्याय नौ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उस परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु हूँ मानव तन के आधारवाला। मेरी स्थिति को न जाननेवाले मूढ़लोग मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं, किन्तु दैवी सम्पद् से युक्त विवेकीजन मुझे श्रद्धा से जपते हैं। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** *(गीता, ९/२६)*- पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ भी वे अर्पित करते हैं उसे मैं ग्रहण करता हूँ और उनका परमकल्याण करता हूँ।

महापुरुष और क्या होते हैं? वे भी साधारण मनुष्य के स्तर से शनैः-शनैः उत्थान करते-करते परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित होते हैं। आसुरी सम्पद्वाले उन्हें साधारण मनुष्य ही समझते हैं, दैवी सम्पद्वाले अनन्य श्रद्धा से उन्हें अपने आपको समर्पित करते हैं।

८- तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें भले-बुरे संस्कारों के बीज जन्मान्तरों तक फल देनेवाले हैं। शरीर तीन हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन्हें और इनके साथ परमपुरुष को साक्षात्कार के साथ जो जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है- ऐसा उन मनीषियों ने कहा है जो क्षेत्र के तत्त्वज्ञ हैं। अर्जुन! तू भी मेरे को क्षेत्रज्ञ जान। यहाँ श्रीकृष्ण पहले तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाजन करते हैं, फिर उनकी जानकारीवाले महात्माओं को क्षेत्रज्ञ बताकर स्वयं को भी क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रकट करते हैं। अतः सिद्ध है कि श्रीकृष्ण भी भगवत्ता में स्थिति प्राप्त महात्मा हैं, महायोगैश्वर्य सम्पन्न हैं।

९- अठारहवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए पूछा- महाबाहो! संन्यास और त्याग के तत्त्व को मैं पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-अर्जुन! बहुत से पण्डित काम्य कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहते हैं (कर्म का तात्पर्य आराधना है) अर्थात् जिस आराधना के पीछे लौकिक आशाएँ छिपी हों, उन कामनाओं के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। अनेक विचार-कुशल पुरुष कर्म-फल के त्याग को ही त्याग कहते हैं। कई मनीषियों का विचार है कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव त्याज्य हैं, तथा दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म किसी भी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को भी सुन! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। यज्ञ, दान और तप तीनों विवेकी पुरुषों को परम पवित्र करनेवाले हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण ने धर्म एवं साधना के नाम पर प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा की और अपना मत भी प्रतिपादित किया। प्रचलित सभी विचारधारायें दोषपूर्ण नहीं थीं, उनमें से एक धारा यथार्थ भी थी कि बहुत से मनीषियों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। उन्हीं मनीषियों के निर्णय को पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने भी अपना निश्चय सुनाया कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। अर्थात् भगवद्स्वरूप को प्राप्त वे मनीषी और योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्णय एक है और ऐसे महात्माओं द्वारा भगवान ही बोलते हैं।

१०– गीता के समापन पर एकाग्रचित्त संजय ने भी श्रीकृष्ण का परिचय योगेश्वर कहकर दिया–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। *(गीता, १८/७८)*

योगेश्वर उसे कहते हैं, जो योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, योग पर जिसका स्वामित्व हो। यही पूर्णता तथा पूर्णयोगी के लक्षण हैं। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण भी जन्म-जन्मान्तरों की साधना से सम्पन्न महायोगेश्वर हैं।

वस्तुतः मानव-मन की एक बड़ी कमजोरी है कि वह अच्छाइयों पर चलने से कतराता है, तरह-तरह के बहाने ढूँढ़ लेता है। श्रीकृष्ण के सद्गुणों को अपने में ढालने की अपेक्षा यह कहकर सन्तोष करना चाहता है कि श्रीकृष्ण तो अपौरुषेय थे, अलौकिक थे। जिन कार्यों को उन्होंने किया, मैं कैसे कर सकता हूँ? वे मानव नहीं भगवान थे, अवतार थे। मनुष्य भगवान को जानता नहीं बल्कि मान लेता है, जबकि श्रीकृष्ण आपका आह्वान करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं कि बहुत से साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। आप भी उसी पथ का अनुसरण करें और कल्याण के भागी बनें।

प्रश्न- महाराजजी! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रकरण को और अधिक स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- देखिये, अध्याय तेरह में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्याख्या करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। *(गीता, १३/१)*

अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। इसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्काररूप में उगता है और जन्मान्तरों तक फल देता है। इसको जो साक्षात् जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं; ऐसा उसके स्वरूप को जाननेवाले महर्षियों ने कहा है। हे अर्जुन! मुझको भी सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन और तत्त्वतः उनकी जानकारी का नाम ही ज्ञान है।

यहाँ श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि कुछ भी रट लेने का नाम ज्ञान नहीं है बल्कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों का निरोध और निरोध के साथ ही उस परमपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ही ज्ञान है। पञ्चमहाभूतों (क्षिति, जल, गगन, पावक, समीर) से निर्मित स्थूल शरीर एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से सृजित सूक्ष्म शरीर तथा चेतना से निर्मित कारण शरीर यह सब क्षेत्र है। ये जब तक रहेंगे तब तक शरीर किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहेगा। इस क्षेत्र का पार पाकर उस शाश्वत पुरुष, परमतत्त्व की अनुभूति और उसमें स्थिति का नाम ज्ञान है। प्रकृति और पुरुष के विभाजन की जानकारी ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण के ही शब्दों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की यह परिभाषा उन महापुरुषों ने दी जो इसके जानकार थे। जो भी इसे जानता है, क्षेत्रज्ञ है। वे महापुरुष क्षेत्रज्ञ थे और ''अर्जुन! मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।'' अर्थात् श्रीकृष्ण भी साधना-पूर्ण महात्मा हैं, महायोगेश्वर हैं। जो क्षेत्र में फँसता नहीं बल्कि उसका संचालक है।

प्रश्न- महाराजजी! हर व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रज्ञ बनता है अथवा क्षेत्रज्ञ बनने पर सम्पूर्ण जीवों के शरीर को जान लेता है?

उत्तर- क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं होते। विकारों सहित प्रकृति और पुरुषत्व की साक्षात् अनुभूति जो भी कर लेता है, वह क्षेत्रज्ञ बन जाता है। महापुरुष को यह स्थिति भगवान ही प्रदान करते हैं। इस स्थिति के साथ ही भगवान के समग्र ऐश्वर्य की अनुभूति होती है। ऐसा महापुरुष परमात्मा में स्थित है जो सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र है, मूल है, उद्गम-स्थल है। इसलिए कोई आत्मा कहीं से चिन्तन करती है, ऊपर उठती है तो तत्क्षण वह क्षेत्रज्ञ उसको संचार प्रदान करेगा, दिशा-निर्देशन करेगा। वह एक साथ सहस्रों को जानता, उनके मनोगत भावों के अनुसार उन्हें निर्देशित करता है। एक साथ उनके भावों को तौलता है। फल के साथ उनका उत्थान कराते हुए अपने क्षेत्रज्ञ रूप में स्थितिपर्यन्त उन्हें चलाता है। यही उस क्षेत्रज्ञ की सर्वज्ञता है। हजारों लोग याद करें अथवा अनन्त, क्षेत्रज्ञ एक साथ सबमें संचारित हो जायेगा। उसे कुछ करना नहीं पड़ता; क्योंकि वह सबके मूल केन्द्र में स्थित है।

महापुरुषों की यह विशेषता है कि जिस साधक ने उन्हें हृदय से पकड़ा, तत्क्षण उसकी आत्मा से जागृत होकर, अभिन्न होकर उसका पथ-संचालन करने लगते हैं और क्रमशः प्रकृति के द्वन्द्वों से निकालते हुए शनैः-शनैः उत्थान कराते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन तथा तत्त्व की अनुभूति साधक को भी करा देते हैं। फिर तो साधक भी क्षेत्रज्ञ हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ- ऐसा नहीं है; अपितु जो भी जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं क्षेत्रज्ञ हूँ तो आप भी बन सकते हैं। मानव अथवा जड़-चराचर ही अष्टधा मूल प्रकृति, पञ्चमहाभूत- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और चेतना का विकार है। क्षेत्रज्ञ इन सभी को जानता है, इनका सञ्चालक भी है।

प्रश्न- महाराजजी! जड़ में चेतन की अनुभूति कैसे होगी?

उत्तर- जड़ हमारी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतन है। पत्थर आपकी दृष्टि में जड़ है किन्तु स्वयं में चेतना से ओतप्रोत है। अब तो आपका विज्ञान भी स्वीकार करता है। वस्तुतः सबके मूल ब्रह्म में स्थित महापुरुष जहाँ भी दृष्टि डालता है 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ही दिखाई देता है। **'सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।'** ***(मानस, २/१३०/७)***- उसकी दृष्टि में न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रहता है और न नरक नरक के रूप में। जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, उसी परमतत्त्व परमात्मा का प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है। यही क्षेत्रज्ञ की स्थिति है। गीता में भी इस स्थिति का चित्रण है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। ***(गीता, ५/१८)***

जो विप्र हैं अर्थात् परब्रह्म से आप्लावित हैं, उनकी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल; कुत्ता, हाथी और गाय सब में समान दृष्टि रहती है। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है न कुत्ता अधर्म है। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई श्रेष्ठता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। शरीर, चमड़े, रंग और मस्तिष्क पर महापुरुष दृष्टि ही नहीं डालते हैं। उनकी दृष्टि सीधे उनकी आत्मा पर पड़ती है जो उनके अन्दर भी संचारित है।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! कुतिया चाहे अपने बारहों स्तनों से दूध दे और गाय चाहे दूध न भी दे फिर गाय तो गाय और कुतिया तो कुतिया ही रहेगी। दोनों समान कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- देखिये, वाल्मीकि पहले चाण्डाल थे, लोग ऐसा ही उन्हें कहते हैं। किन्तु महापुरुषों ने उन्हें चाण्डाल और डाकू के रूप में नहीं देखा। उन्हें तुरन्त दिशा दी और **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'** ***(मानस, २/१९३/८)***-

ब्रह्मर्षि के रूप में परिणत हो गये। इस प्रकार उन महापुरुषों की दृष्टि आत्मा पर ही रहती है और जब भी आत्मा उनकी ओर झुकाव लेगी वे तुरन्त उसे पकड़कर स्थूल-सूक्ष्म-कारण पर्यन्त शरीरों में निराई प्रारम्भ कर देते हैं। शनैः-शनैः उसकी आत्मा से अभिन्न होकर रथी बन जाते हैं; फिर तो **'जाके रथ पर केसो। ता कहँ कौन अँदेसो।।'** उत्थान करते-करते उस शाश्वत तक की दूरी तय करा देते हैं। वह साधक भी क्षेत्रज्ञ बन जाता है। श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ हैं, योगेश्वर अर्थात् योग के ईश्वर हैं।

तुम अपने अन्तराल में उस अधिकार का अर्जन करो तथा ऐसे महापुरुषों की मन, वचन, कर्म से शरण ग्रहण करो, तुम भी प्रेरणा-स्रोत उसी शाश्वत स्वरूप को क्रमशः पाओगे; और यह कुतिया तथा गाय तो भिन्न श्रेणी के जीव हैं। किन्तु शूद्र जिस पर शूद्रत्व लादा गया, तथा ब्राह्मण, ईसाई सभी एक ही मानव हैं। यह उदाहरण ही तुम लोगों ने गलत उठाया है।

।। ॐ ।।

३. यज्ञ

यज्ञ के वास्तविक स्वरूप के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत के कतिपय प्रसंग विचारणीय हैं। श्रीकृष्ण की हत्या के प्रयासों में असफल कंस घबरा गया। पूतना, अघासुर, बकासुर, तृणावर्त, वत्सासुर, केशी इत्यादि राक्षस देखते-देखते श्रीकृष्ण के हाथों मारे गये, तब उसका ध्यान अन्य उपायों की ओर गया। पण्डितों ने कहा कि राजन्! इस छोटी-सी बात के लिए आप क्यों चिन्तित होते हैं? हम बोलेंगे 'स्वाहा', तो कृष्ण मर जायेगा। कंस ने कहा– कितना भी व्यय हो, कृष्ण-विध्वंसक यज्ञ कर डालो। यज्ञ होने लगा।

एक दिन भगवान श्रीकृष्ण ग्वाल-बाल-सखाओं के साथ उसी वन की ओर गो-चारण के लिए निकले। दोपहर हो आयी तो साथियों ने कहा– कन्हैया! इस जंगल में घास-पात के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, क्या खायेंगे हम? कहीं से भोजन का प्रबन्ध करो। श्रीकृष्ण ने कहा– जंगल में धुआँ कैसा उठ रहा है? कुछ लड़कों ने दौड़कर देखा और लौटकर बताया कि वहाँ कुछ लोग आग जलाकर बैठे हैं, बड़बड़कर कुछ कहते हैं और स्वाहा बोल रहे हैं। श्रीकृष्ण ने कहा– ओह! वहाँ तो यज्ञ हो रहा है। ठीक है, जाओ उन यज्ञकर्ताओं से भोजन ले आओ। यज्ञकर्ताओं ने उन्हें डाँटकर भगा दिया तो भगवान ने कहा– उनकी पत्नियों के पास जाओ। वह मुझमें श्रद्धा रखती हैं। हमलोगों को खाने के लिए वे कुछ न कुछ अवश्य देंगी।

ब्राह्मणियों ने सुना कि यशोदा के लल्ला कृष्ण यहीं आये हैं तो यज्ञ के निमित्त बने हुए पक्वान्न लेकर ग्वालबालों के साथ चल पड़ीं। पण्डितों ने उन्हें मना किया। एक ने तो अपनी पत्नी को झोपड़ी में बन्द कर बाहर से कुन्दा लगा दिया। शेष सभी ने भगवान श्रीकृष्ण को भोजन कराया। भोजन के पश्चात् ग्वाल-बाल नृत्य करने लगे। पण्डिताइनें भी उनका

उत्साहवर्धन करने लगीं। पण्डितजन भी आ गये थे। तब तक किसी ने कहा कि सखी जो पीछे छूट गयी थी, वह भी भगवान से आ मिली। यज्ञकर्ता पण्डितों ने क्षमा-याचना करते हुए कहा– भगवन्! हम आपका ही भजन कर रहे थे। भगवान ने कहा– यह आग जलाकर क्या कर रहे थे? ब्राह्मणों ने कहा– प्रभो! आपको तो ज्ञात ही है, कंस के कहने पर आपको मार डालने के लिए हम यज्ञ कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने कहा– स्वाहा बोलने से मैं कैसे मर जाऊँगा? यह कैसा यज्ञ है? ब्राह्मणों ने कहा– भगवन्! कंस की इच्छा पूरी नहीं हुई, अब वह हम सबको जीवित नहीं छोड़ेगा, हम करें क्या? भगवान ने कहा– चलो वृन्दावन, खाओ माखन-मिश्री; अन्य कोई रास्ता भी तो नहीं है। इस प्रकार भगवान ने कंस के कृत्रिम यज्ञ का विध्वंस कर दिया।

इसी प्रकार मगध नरेश जरासन्ध ने बीस हजार आठ सौ राजाओं को पराजित कर उनकी बलि चढ़ाने के लिए कारागार में बन्द कर रखा था। अर्जुन और भीम के साथ भगवान वहाँ गये। भीम ने मल्लयुद्ध में उसे मार डाला। महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में उपस्थित होकर उन सब राजाओं ने भगवान श्रीकृष्ण के प्रति आभार व्यक्त किया।

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।' (४/३९)– श्रद्धावान्, उस तत्त्व के परायण तथा संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है। तत्क्षण ज्ञान और दूसरे क्षण स्थिति पा जाता है। इसमें भी श्रद्धा पहली शर्त है। भगवान् तो भाव के भूखे हैं। आप सुमिरन करें, भगवान सर्वत्र हैं! जहाँ आपने मन से भगवान का स्मरण किया, भगवान सुनवाई करेंगे। यज्ञ है नहीं, केवल नाम दे रखा हैं। ऐसा कुछ भी करने से भगवान प्रसन्न नहीं होते। गीता में भगवान कहते हैं– अर्जुन! गीतोक्त शास्त्रविधि से रहित नाममात्र के यज्ञों से, दम्भ से जो यजन करते हैं, वे क्रूरकर्मी, पापाचारी, मनुष्यों में अधम हैं, अधर्म के पथ पर चलनेवाले हैं। वे मुझ अन्तर्यामी

परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। दुश्मनी तो हो गयी भगवान से! मनुष्य आपस में द्वेष करके किसी उपाय से बच लेते हैं। क्या यह भी बच जायेंगे? भगवान कहते हैं– नहीं, मैं उन नराधमों को बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ। उत्तरोत्तर अधःयोनियों में गिरने का नाम ही नरक है। उत्कर्ष ही स्वर्ग है। इसलिए गीताशास्त्र के अनुसार यज्ञ का आचरण ही सही साधना-पद्धति है। उसको कार्यरूप देना ही कर्म है। इस कर्म का परिपालन ही धर्म है। इसमें आरम्भ का नाश नहीं है।

यज्ञ का स्वरूप गीता में द्रष्टव्य है–

प्रश्न– महाराजजी! श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है– "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः"– यज्ञ के सिवाय जो कुछ किया जाता है वह इसी लोक का एक बन्धन है। कृपया बतावें कि यज्ञ क्या है? कैसे किया जाता है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में भगवान् मिलते हैं लेकिन संसार में इतना हवन-यज्ञ होता है फिर भी भगवान् किसी को मिलते दिखाई नहीं देते। कृपया यज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

उत्तर– आपकी शंका स्वाभाविक है। गीता के तीसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। *(गीता, ३/९)*

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। कर्म वह है जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। इस यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, जिसमें सारा जगत् दिन-रात व्यस्त है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** *(गीता, ४/१६)*– अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला होता है। वह बाँधता नहीं। **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।'** इसलिए कौन्तेय! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संग-दोष से अलग रहकर भली प्रकार कर्म का आचरण कर। इस प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह

प्रक्रिया-विशेष कर्म है, जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। सिद्ध है कि यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। अतः आपका प्रश्न स्वाभाविक है कि वह यज्ञ है क्या?

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न का गीता में सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने केवल इतना ही नहीं बताया कि यज्ञ क्या है बल्कि प्रकरण की महत्ता को समझाते हुए यह भी बताया कि यज्ञ आया कहाँ से और देता क्या है?

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। *(गीता, ३/१०)*

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ। यहाँ बुद्धि ही ब्रह्मा है- **'अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।।'** *(मानस, ६/१५)* बुद्धि चार प्रकार की कही गयी है- ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ।

'ब्रह्मविद्' वह बुद्धि है जो ब्रह्मविद्या से ओतप्रोत है। यह केवल रटी-रटायी विद्या मात्र है, क्योंकि इस स्तर की बुद्धिवाला उस पर पूर्णतः चल नहीं पाता। ब्रह्मविद्वर वह बुद्धि है जिसे ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठता प्राप्त हो। क्रियात्मक जानकारी होने पर साधन क्रमशः इतना उन्नत हो जाय कि वह स्वयं तो ब्रह्म का ज्ञाता हो ही, दूसरों को भी उस मार्ग पर चला देने की क्षमता रखे, ऐसी बुद्धि को ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं। ब्रह्मविद्वरिष्ठ बुद्धि ब्रह्मज्ञता की वह स्थिति है जिसमें इष्ट समाहित हो। ऐसी बुद्धि मात्र यंत्र होती है और उसके माध्यम से आराध्य ही अपनी वाणी प्रसारित किया करता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। वेदों को अपौरुषेय इसीलिए कहा जाता है, यद्यपि वह सौ-दो सौ महर्षियों की वाणी का संकलन है; बोलनेवाले सौ-सवा सौ महात्मा ही हैं। फिर भी उसमें महात्माओं का कुछ भी नहीं है बल्कि वह अव्यक्त परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। ऐसे ही महापुरुषों ने कल्प के आदि में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया।

कल्प के आदि का आशय भजन के आरम्भ से है। भवरोगों से त्रस्त मरणधर्मा जीवात्मा का कल्प भजन से ही है। इसी के द्वारा वह पूर्ण निरोग होता है, उसका कायाकल्प हो जाता है। भजन की दो अवस्थाएँ हैं- आरम्भ एवं पराकाष्ठा। कल्प का आदि भजन की आरम्भिक स्थिति है; जबकि पराकाष्ठा वह स्थिति है जहाँ आत्मा शाश्वत ब्रह्म का दिग्दर्शन पाकर पूर्ण निरोग, अचल स्थिर हो जाती है, पुनः योनियों में प्रवेश नहीं करती, जिसे श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा ने अर्थात् जिसकी बुद्धि मात्र यन्त्र है, ऐसे स्थितप्रज्ञ महापुरुष ने कल्प के आदि में अर्थात् भजन के प्रारम्भ में प्रजा को यज्ञ से संयुक्त किया अर्थात् साधक के अन्तःकरण में यज्ञ के बीज का वपन किया और कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुमलोग वृद्धि को प्राप्त होओ।

यज्ञ से कौन-सी उन्नति होगी? दो पुत्र हैं तो क्या चार हो जायेंगे? एक मकान है तो क्या दो हो जायेंगे? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, यह यज्ञ **'इष्टकामधुक्'**- इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्तिवाला होगा। इष्ट वह है जिससे कभी अनिष्ट नहीं होता। ऐसा तो एकमात्र परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कभी पतन नहीं होता। देवता तक **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** *(गीता, ९/२१)*- पुण्य क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में उसी स्थान पर लौटकर आ जाते हैं, जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे बड़ा अनिष्ट क्या होगा? अतएव एकमात्र परमात्मा ही परमकल्याणकारी है। वही हमारा इष्ट है और यज्ञ उसी इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति करने वाला है।

जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यज्ञ से किस प्रकार इष्ट की उपलब्धि होगी? क्या इष्ट अकस्मात् कल्याण कर देगा? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, बल्कि-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। *(गीता, ३/११)*

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् काम, क्रोध, मद, लोभ, माया आदि की चपेट में तो जीव पहले से है ही। अतः इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो; हृदय में दैवी सम्पद् को बलवती बनाओ। विवेक, वैराग्य, मन का शमन, इन्द्रियों का दमन इत्यादि दैवी सम्पद् हैं जिसका विस्तरशः उल्लेख सोलहवें अध्याय में है। यह सम्पत्ति आंशिक रूप से है तो सब में, किन्तु दुर्बल है; उसी को बलवान भर करना है। यही आपका अपना बल है। उसी की उन्नति में आपकी उन्नति निहित है। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी, मन अन्तराल में सिमटता जायेगा, ध्यान में बल मिलता जायेगा। इस प्रकार परस्पर उत्थान करते-करते परमश्रेय परमात्मा को प्राप्त हो जाओ। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है जो दैवी सम्पद् को उत्तरोत्तर उन्नत करनेवाली है, परमकल्याण करनेवाली है।

दैवी सम्पद् को विकसित किये बिना अर्थात् साधन किये बिना यदि कोई अपने कल्याण को सिद्ध मान लेता है, श्रीकृष्ण उसकी निन्दा करते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। *(गीता, ३/१२)*

यज्ञ द्वारा संवर्द्धित देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे और 'तैर्दत्तान्'- वे दाता हैं। जो बिना उनके दिये ही अपने को पूर्ण मान लेता है, श्रीकृष्ण के शब्दों में वह चोर है।

प्रश्न- महाराजजी! 'इष्टान्भोगान्' का अर्थ क्या इच्छित भोग नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, क्योंकि सांसारिक इच्छाएँ धन, स्त्री, पुत्रादि की हो सकती हैं किन्तु इनसे परम कल्याण सम्भव नहीं है लेकिन यज्ञ तो ऐसी वस्तु है जिससे **'श्रेयः परमवाप्स्यथ'-** परमकल्याण होता है। अतः इष्ट-सम्बन्धी भोग ध्यान की मस्ती, ईश्वरीय वातावरण की उपलब्धि से सम्बन्धित है। इस

प्रकार देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे (चिन्तन-कर्म यज्ञ-क्रिया है) और वही एकमात्र दाता हैं। अर्थात् बिना किये कोई नहीं पाता। इन दैवी प्रवृत्तियों का सम्वर्द्धन किये बिना ही जो उस अव्यक्त सत्ता की स्थिति का उपभोग करता है, बिना चले ही जो मंजिल पर पहुँच जाने का दम्भ भरता है, वह निश्चय ही चोर है अर्थात् मुँह छिपानेवाला है। अतः यज्ञ करना नितान्त आवश्यक है।

यज्ञ से मिलेगा क्या? यज्ञ से होनेवाली उपलब्धि के बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। *(गीता, ३/१३)*

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न अर्थात् यज्ञ के पूर्तिकाल में शेष ब्रह्मानन्द को पाकर यह आत्मा सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाती है। उस ब्रह्मानन्द का पान करनेवाले सन्त सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं; किन्तु जो पापी केवल शरीर-पोषण मात्र के लिए परिश्रम करते हैं वे और अधिक पाप का ही संग्रह करते हैं। वे यज्ञ तो करते हैं किन्तु बदले में शरीर और तत्सम्बन्धित सुख-सुविधाओं की आशा रखते हैं, जबकि देवताओं तक का शरीर पुनरावर्तनशील है। अतः यज्ञ निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मा ने यज्ञ से संयुक्त प्रजा को बनाया, तो अन्ततः वे सम्पूर्ण भूत यज्ञ से संयुक्त क्यों हो गये? कौन-सा प्रलोभन उन्हें दिखायी पड़ा? श्रीकृष्ण कहते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। *(गीता, ३/१४)*

भूत प्राणी अन्नाद अर्थात् अन्न को खानेवाले होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में अन्नाद शब्द का प्रयोग 'अन्न का उपभोग करनेवाले' के लिए किया गया है।

भूतों की उत्पत्ति संकल्प से होती है। इसी अन्न को उद्देश्य बनाकर अर्थात् ब्रह्म को उद्देश्य बनाकर सभी भूत (संकल्प) यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न ब्रह्म है- **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।** ***(तैत्ति०/भृगु० द्वितीय अनुवाक्)*** वही तो आत्मिक आहार है जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो जाती है, कभी अतृप्त नहीं होती। उसी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर समस्त संकल्प यज्ञ से संयुक्त हुए।

संकल्पों की उत्पत्ति तो ब्रह्म के लिए हुई, अन्न के लिए हुई; किन्तु उस अन्न की उत्पत्ति कैसे होती है? श्रीकृष्ण कहते हैं- वृष्टि से। पूर्वजन्म में कुछ करते बन गया अथवा इस जन्म में किसी महापुरुष की कृपावृष्टि हो, जबकि वह हमारा ही पूर्व का किया हुआ यज्ञ-संचार है जो अब मिल रहा है, तभी ब्रह्मानन्द का आस्वादन सम्भव है। यह कृपावृष्टि कैसे होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ से। या तो किसी महापुरुष के कृपा-प्रसाद से हो अथवा **'अनेक-जन्मसंसिद्धः'** ***(गीता, ६/४५)***- पूर्वजन्म से वह पार लगा हो, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों आप क्रिया करते जायेंगे, यज्ञ उन्नत होता जायेगा।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। ***(गीता, ३/१५)***

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। जिन महापुरुषों को यह तत्त्व विदित है, बुद्धि मात्र यंत्र है, उन्हीं की वाणी वेद है। ऐसे महापुरुषों की वाणी से इस कर्म की रचना हुई। तो क्या महापुरुषों ने अपनी बुद्धि से रचना की? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, ऐसे महापुरुषों के माध्यम से स्वयं ब्रह्म ही अपनी वाणी प्रसारित करता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। वेद अपौरुषेय हैं। यद्यपि वेद सैकड़ों महापुरुषों की वाणियों का संकलन है, जो ब्रह्म में भली प्रकार स्थित थे फिर भी वह किसी पुरुष की वाणी नहीं है बल्कि महापुरुषों के मूल में जो अव्यक्त है उनकी वाणी है। श्रुति है- **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।', 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ**

जाई।' *(मानस, २/१२६/३)* स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् महापुरुषों के मुख से जो भी निकलता है वह सब वेद है; क्योंकि उनकी बुद्धि मात्र यंत्र है, शरीर रहने का एक मकान मात्र है। अव्यक्त ब्रह्म ही उनमें व्यक्त है। इसलिए वेद को तू अव्यक्त ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। वह सर्वव्यापी अक्षर परमात्मा सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। *(गीता, ३/१६)*

श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं- हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं बरतते, वे इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीते हैं। किस साधन-चक्र को? जिस पर श्रीकृष्ण ने अभी प्रकाश डाला कि क्रमशः देवताओं की उन्नति करो, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् का संग्रह होगा, इष्ट की ओर चित्त केन्द्रित होता जायेगा, वही तुम्हारी प्रगति है। परस्पर उन्नति करके परमकल्याण को प्राप्त कर लो। वही एकमात्र दाता हैं। उनके दिये बिना अपने को पूर्ण मान लेनेवाला पुरुष चोर है, मुँह छिपानेवाला है। वे अघायु इन्द्रियाराम के लिए हैं। देवता भी तो मरणधर्मा हैं। उनका शरीर भी मिल जाय तो क्या, उतने से भी परमकल्याण सम्भव नहीं है। यज्ञ से शेष बचनेवाला ब्रह्मानन्द ही इस आत्मा का अशन है। उसका पान करनेवाले सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए ही पचते हैं, वे पाप ही भोगते हैं। इसी ब्रह्मानन्दरूपी अन्न को उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ से संयुक्त हुए। अन्न अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति कृपावृष्टि से होती है। पूर्वजन्म के यज्ञाचरण अथवा यज्ञस्वरूप महापुरुषों के द्वारा यह वृष्टि होती है। वेद अविनाशी से उत्पन्न होता है; इससे सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यदि आपको परमात्मा की चाह है तो यज्ञ का आचरण करें। इस साधन-चक्र के अनुसार क्रमशः परस्पर उत्थान करते-करते जो परमकल्याण तक नहीं पहुँच जाते, श्रीकृष्ण के शब्दों में, इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले

ऐसे पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीवित रहते हैं। सिद्ध है कि इस चिन्तन-पथ में इन्द्रियों के आराम का कोई विधान नहीं है। मन और इन्द्रियों के दमन के साथ ही भोगों से विरत रहकर ही इस यज्ञ का किया जाना सम्भव है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है कि यज्ञ को किये बिना उस परमतत्त्व को न कोई पाया है और न कोई पा सकेगा। पूर्व में होनेवाले जनक इत्यादि महर्षिगण भी इसी कर्म को करके परमनैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त हुए; किन्तु जो महापुरुष आत्मा में ही तृप्त एवं स्थित हैं, उनके लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और छोड़ने से कोई हानि ही है। इसी को और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (गीता, ४/२३)

आसक्ति एवं संग-दोष के प्रभाव से सर्वथा रहित तथा साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी में स्थित चित्त, यज्ञ के लिए भली प्रकार आचरण करनेवाले मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्टप्राय रहते हैं। यज्ञ का आचरण ही तो कर्म है। कर्म करते हुए भी वह महापुरुष लिपायमान नहीं होता। क्यों! जब वह कर्ता है तो कर्म उसे बाँधते क्यों नहीं? श्रीकृष्ण कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। *(गीता, ४/२४)*

ऐसे महापुरुष द्वारा जो अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कर्ता है और जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है। उसके द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म है; क्योंकि कर्म के द्वारा वह ब्रह्म में समाधिस्थ हो चुका है। उसके लिए तो **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**- सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। सारांशतः ऐसा महापुरुष वस्तुतः कुछ करता नहीं बल्कि पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए अभिनय मात्र करता है। यज्ञ से न तो उस पर शुभ संस्कार पड़ता है और न अशुभ ही।

यज्ञ-विधि

यह तो प्राप्तिवाले पुरुष के आचरण हैं; किन्तु यज्ञ-विधि क्या है? हम आरम्भ कहाँ से करें? इस पर देखें श्रीकृष्ण के ही शब्दों में-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। *(गीता, ४/२५)*

मुक्तपुरुष के लिए यज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है; किन्तु दूसरे योगी, जिन्हें अभी उपलब्धि नहीं हुई है, देवयज्ञ को अच्छी प्रकार उपासते हैं, दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं। वैराग्य, शम, दम इत्यादि दैवी गुण जिसमें परमदेव का देवत्व निहित है, उसको अर्जित करते हैं। परात्पर ब्रह्मरूप अग्नि है ही, उसी में प्रवेश पाने के लिए दूसरे योगी यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करते हैं।

यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करना क्या है? जब अर्जुन ने प्रश्न किया- भगवन्! कर्म क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ क्या हैं और इस शरीर में वह अधियज्ञ किस प्रकार है? तब श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! मैं ही इस शरीर में अधियज्ञ हूँ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ। जो महापुरुष यज्ञ को पूर्ण कर लेता है और यज्ञ से प्राप्तव्य उस ब्रह्म के अनुरूप स्थितिवाला है वह अधियज्ञ कहलाता है।-*(अध्याय ८/१-४)* **'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।'** *(गीता, ५/२९)*- अर्जुन! यज्ञ और तपों का भोक्ता भी मुझे ही जान! अतः महापुरुष ही यज्ञ का अधिष्ठाता है। ऐसे यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष को उद्देश्य बनाकर जो यजन करते हैं, मानसिक प्रवृत्तियों का हवन करते हैं, वे यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। *(गीता, ४/२६)*

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, रसना इत्यादि) को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को

बाह्य विषयों से समेटकर संयमित करते हैं। यहाँ अग्नि नहीं जलती बल्कि जैसे अग्नि में डालने से भली-बुरी सभी वस्तुएँ भस्मसात् हो जाती हैं ठीक इसी प्रकार संयम एक ऐसी अग्नि है जिसमें इन्द्रियों का बहिर्मुखी प्रवाह सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिए संयम को अग्नि की संज्ञा दी गयी है।

अन्य बहुत से योगी शब्दादिक विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। शब्द इत्यादि का तात्पर्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से है। उदाहरणार्थ, साधक शान्तचित्त होकर चिन्तन में अग्रसर है, मन के अन्तराल में विजातीय संकल्प नहीं; ठीक तभी दूसरों द्वारा उच्चरित कोई शब्द बलात् सुनाई पड़ता है। साधक ऐसा शब्द किंचित् भी सुनना नहीं चाहता फिर भी दुनिया में रहकर मनन करना है तो सुनाई पड़ना स्वाभाविक है, किसी दृश्य का दिखायी पड़ना स्वाभाविक है। तब साधक उसके द्वारा आनेवाले विषयों को **'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'**– इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्तराल में विषयजनित आशय को बदल देता है। साधक विषय को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करता अन्यथा वह पतित हो जाय। वह तो संकल्प-दृष्टि पैदा होते ही विकारोत्पादक भावना को ही बदल देता है।

इस प्रकार की एक घटना हमारे जीवन में भी घटित हुई। अष्टग्रही योग की चर्चा थी। हम गाजीपुर में थे। उस वर्ष विवाह की केवल तीन ही लग्न थी। शहर का मामला! हजारों लाउडस्पीकर एक साथ बज उठे। ''समधिन चली बजार, चार यार संगे चले।'' ''अकेली डर लागे रात मोरी अम्मा'' इत्यादि गीत वातावरण में तैरने लगे। एकाध दिन तो एक भी शब्द हमारे कान में नहीं पड़ा क्योंकि चित्त उधर था ही नहीं; किन्तु शब्दों के बार-बार टकराने से कुछ सुनाई पड़ने लगा। तीसरे दिन एक लाउडस्पीकर उस दीवाल से सटकर बजने लगा, जहाँ हम रहते थे। एक-एक शब्द विषय-उद्दीप्त करनेवाला था। एक-एक शब्द गोली की तरह प्रभाव डाल रहा था। हमने सोचा कि यहाँ रहूँगा तो पतित हो जायेंगे। तुरन्त वहाँ से भाग खड़े हुए और

शहर से दो-एक मील बाहर निकल गये; किन्तु जिससे भय लगता है, यह मन उसे ही शीघ्र पकड़ता है। क्षीण स्वर में भी संगीत सुनाई पड़ने पर मन तुरन्त ही उस गीत को पहचान लेता था। अब तो बड़ी घबड़ाहट हुई। चार-पाँच मील तक चारों ओर वे शब्द गूँज रहे थे।

हमने महाराजजी का स्मरण किया, प्रार्थना की और तुरन्त ही एक दिशा मिल गई कि 'कबीर' का भजन सुनाते समय महाराजजी भी तो प्रायः ऐसा ही कहते थे-

साईं के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोबन सपने की नाईं।।

इत्यादि कबीर के भजन भी तो ठीक इससे मिलते-जुलते हैं। क्यों न इसी दृष्टि से इन गानों का भी आशय लगाया जाय। बस, हम लौट आए। लिप्सावाले वे गाने साधन-क्षेत्र में भी इतने उपयोगी लगे कि कई बरस तक हम उन भजनों को गाते रहे, समाज में सुनाते भी थे। जब-जब मन न लगे, उन गीतों को हम गा लें तो विरह-वैराग्य एवं अश्रुपात सब कुछ हो जाय। जैसे- **'समधिन चली बाजार, चार यार संगे चले।'** चिन्तन करते-करते साधना समाधि के स्तर पर पहुँच गई, केवल परमात्मा में विलय शेष है, ऐसी अवस्था में यदि हम चिन्तन छोड़कर **'माया गढ़ खूब बजार'**- इस मायिक बाजार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो **'चार यार संगे लगे'**- काम, क्रोध, लोभ और मोह ये चारों यार अन्तःकरण में पनपने लगते हैं अर्थात् एक इंच भी इष्ट अलग है और हम उससे अलग हैं तब तक खतरा है। इस प्रकार शब्दों के माध्यम से जो विषय आये, उनके आशय को बदला। ऐसा ही अवसर अर्जुन के समक्ष देवसभा में उस समय उपस्थित हुआ जब वे उर्वशी को टकटकी लगाकर देख रहे थे। देवताओं के पूछने पर उन्होंने बताया कि मैं देख रहा था कि माता कुन्ती स्वर्गलोक में कैसे आ गईं? बहुत दिनों से माँ को नहीं देखा था, इसीलिए उत्कण्ठापूर्वक देखता ही रह गया। उर्वशी

बौखलाकर अर्जुन के पीछे ही पड़ गई किन्तु अर्जुन अडिग रहे। उर्वशी ने शाप भी दिया किन्तु सत्य पर आरूढ़ रहनेवाले का अहित कैसे होता? अज्ञातवास में वह शाप भी आशीर्वाद के रूप में बदल गया, सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार रूप दिखाई तो पड़ा किन्तु श्रीकृष्ण के शिष्य अर्जुन ने उसका आशय बदल लिया, मातृरूप देखा। इस प्रकार बहुत से योगी शब्द, रूप, स्पर्श इत्यादि के माध्यम से आनेवाले विषयों को **'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'**- इन्द्रियाग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् उसके आशय को बदल देते हैं जो वैराग्य एवं परमकल्याण में सहायक होता है। यह इन्द्रियाग्नि वासना का निरोध करती है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। *(गीता, ४/२७)*

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को और प्राण के व्यापार को अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कार्यकलापों को भलीभाँति निरोध करके साक्षात् अनुभूति द्वारा प्रकाशित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में हवन कर देते हैं, परमात्मा में स्थितिरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। यह पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए योगी का यज्ञ है।

प्रश्न- महाराजजी! उपर्युक्त श्लोकों में 'अपरे', 'अन्ये' शब्द आये हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि ये कई प्रकार के योगी हों या यज्ञ हों। देवयज्ञ करनेवाले एक प्रकार के, इन्द्रिय-संयम करनेवाले दूसरे और विषयों के आशय बदलनेवाले तीसरे योगी हों?

उत्तर- नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। 'अन्ये' या 'अपरे' शब्द महापुरुषों से साधकों की पृथकता का बोधक है। सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। पहले प्रारम्भ की अवस्था है, तत्पश्चात् मध्य की अवस्था और अन्त में पराकाष्ठा की अवस्था का चित्रण उक्त सत्ताइसवें

श्लोक में किया गया है। प्रारम्भिक स्तर से पुनः प्रारम्भ हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता।। *(गीता, ४/२८)*

बहुत से योगी **'द्रव्ययज्ञा'**- ईश्वरार्पित बुद्धि से द्रव्य लगानेवाले होते हैं। सत्पुरुष सद्गुरुओं की सेवा, तीर्थों में धन लगाना तथा भौतिक वस्तुओं से हवन इत्यादि इसी में आ जाते हैं। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।'** *(गीता, ९/२६)* वे द्रव्य ही तो लगा रहे हैं, महापुरुष की सेवा ही तो कर रहे हैं। यह भी एक यज्ञ है। आगे ४/३३ में कहते हैं- यह यज्ञ अल्प है, चाहे करोड़ का ही क्यों न हो। बहुत से योगी तप-यज्ञ करते हैं। जिस इष्ट का चिन्तन करते हैं उसी के लिए इन्द्रियों को नियुक्त करने का नाम 'तप' है। इन्द्रियाँ सदैव सुख चाहती हैं, उन्हें वासनाओं से समेटकर चिन्तन-पथ पर तपाना ही 'तप-यज्ञ' है। इन्द्रियों का निरोध ही तप-यज्ञ है। इसमें शीत-वात सहन करना तथा शारीरिक चेष्टाओं का शमन करना होता है।

दूसरे साधक 'योगयज्ञ' का भलीभाँति पालन करते हैं। 'योग' मेल को कहते हैं। दो वस्तुओं के मिलन का नाम योग है। लोटा-थाली से मिल गया, हाथ दीवाल को छू गया तो क्या हो गया योग? नहीं, यह तो सभी प्रकृति के क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, पदार्थ मात्र हैं, दो कहाँ हैं? प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से परे परमात्मा से मेल करे, उसी दिग्दर्शन और प्रवेश का नाम 'योग' है। योग के साथ ही जीवात्मा एवं अंशी की संज्ञा मिट जाती है। शाश्वत पुरुष 'अव्यक्त' मात्र शेष रहता है। प्रकृति परमपुरुष के अंक में विलीन हो जाती है, 'पुरुष' ही शेष बचता है। अनेक साधक इस मिलन के लिए परिश्रम करते हैं। जिसमें योग के सभी अंग आ जाते हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय में श्रीकृष्ण ने इसके साधनों पर प्रकाश डाला, जैसे-

एकान्त-देश का सेवन, स्थिर आसन, संग-दोष से अलगाव, इन्द्रियों का दमन तथा ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति इत्यादि छिटपुट दिया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी स्वतंत्र रूप से 'अष्टांग योग' पर प्रकाश डाला है। वस्तुतः योग के उक्त नियम साधना की आधारशिला हैं जिनके ऊपर चिन्तन एवं नाम-जपरूपी मुख्य भवन का निर्माण होता है।

दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष 'स्वाध्याय' अर्थात् स्वयं के अध्ययन के लिए ज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं। ये ज्ञानयोगी स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करते हैं। ज्ञानयोगी करते क्या हैं? ज्ञानयोगी भी वही कर्म करते हैं जिससे इस यज्ञ की पूर्ति होती है, पराकाष्ठा मिलती है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। *(गीता, ४/२९)*

बहुत से योगी अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं और अन्य प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं। 'प्राण' वह श्वास है जिसे हम ग्रहण करते हैं, 'अपान' त्याज्य है। श्रीकृष्ण ने यहाँ प्राण के माध्यम से चिन्तन के विधान पर प्रकाश डाला है। कुछ योगी साँस लेते समय 'ओम्, ओम्' जपते हैं, श्वास लेते समय अन्य कोई संकल्प नहीं उठने देते तो दूसरी ओर अनेक योगी श्वास को बाहर त्यागते समय ओम् का जप करते हैं। और जब साधना इतनी सूक्ष्म हो जाय कि न बाहर से किसी संकल्प को ग्रहण करें और न भीतर से संकल्प उठने दें तहाँ **'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।'**- प्राण और अपान की गति रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। प्राणों का याम अर्थात् सर्वथा रुक जाना सम्भव हो जाता है। यही मन की निरोधावस्था है। यही यज्ञ का परिणाम और उसकी पूर्णता का स्थल है। अब केवल पाना ही शेष है।

प्रश्न खड़ा होता है कि साधक यज्ञ करते ही रहेंगे या कभी उनका यज्ञ पूर्ण भी होगा? यज्ञ की पूर्ति में मिलेगा क्या? श्रीकृष्ण बताते हैं कि जब प्राण

और अपान की गति रुक जाय, प्राणों का याम हो जाय अर्थात् न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश करें और न साधक के भीतर ही संकल्प उठे, चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाय- यही यज्ञ का पूर्तिकाल है। मन के निरोध के साथ ही जगत् का प्रसार, प्रकृति का आदान-प्रदान, उसका प्रवाह शान्त हो जाता है। फिर तो यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। *(गीता, ४/३१)*

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ के परिणामस्वरूप ज्ञानामृत को भोगनेवाला योगी **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- सनातन शाश्वत परमात्मा में प्रवेश करता है। यही शाश्वत ब्रह्म यज्ञ का परिणाम है, जहाँ जाकर यज्ञ भी शान्त हो जाता है। आगे कोई सत्ता ही नहीं है तो किसे ढूँढ़ा जाय? आत्मा जो अजर-अमर तथा अमृतस्वरूप है, विदित हो जाता है। उस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। जब इष्ट का साक्षात्कार ही हो गया तो साक्षात्कार के साथ ही उस अमृतत्व का पान करनेवाला योगी सनातन शाश्वत परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

किन्तु मान लीजिए, हम यज्ञ ही न करें, कौन इतना बड़ा झंझट पाले। पार न लगे तब? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए पुनः यह मनुष्य-लोक भी नहीं है तो फिर परलोक कैसे सुलभ होगा? उसे मानव-योनि भी नहीं मिलेगी, परलोक प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। अतः इस यज्ञ को करने का अधिकार मनुष्य-शरीर को है। मानवमात्र को है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। *(गीता, ४/३२)*

छोटी-मोटी विधियों में विभक्त ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ **'विताता ब्रह्मणो मुखे'**- वेदज्ञ पुरुषों की वाणी में कहे गये हैं, उन सभी यज्ञों को तू **'कर्मजान्विद्धि'**- कर्म से उत्पन्न हुआ जान, मन तथा इन्द्रियों की क्रिया से

उत्पन्न हुआ जान। इसमें कोई भौतिक वस्तु नहीं लगती। अब यदि इन्द्रियों का संयम, प्राण में अपान का और अपान में प्राण का हवन या प्राणायाम परायण होना फरसा चलाने से होता हो, कपड़ा बेचने से होता हो, तेल बेचने से होता हो तो करिये! नेतागिरी से होता हो तो करिये! लेकिन नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं- यज्ञ को मनसहित इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें भौतिक द्रव्यों का कोई उपयोग नहीं है। तो क्या भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ व्यर्थ हैं? कहीं लाख-दस लाख रुपये लगाकर हवन हो रहा है, क्या वह यज्ञ नहीं है? श्रीकृष्ण ऐसे किसी कृत्य को यज्ञ की संज्ञा नहीं देते। समाज के सामूहिक कल्याण के लिए प्रार्थना-स्थल, मन्दिर इत्यादि का निर्माण, असहायों की सहायता, दान इत्यादि द्रव्य यज्ञ हैं। सन्तों, सत्पुरुषों, तत्त्वस्थित महापुरुषों की सेवा में श्रद्धानुसार वस्तुओं का अर्पण द्रव्य यज्ञ है। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'**- जो कोई भी भक्तिभाव से पत्र, पुष्प, फल इत्यादि मुझे समर्पित करता है उसका मैं सेवन करता हूँ, यह भी यज्ञ है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। *(गीता, ४/३३)*

अर्जुन! सांसारिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेयस्कर है; क्योंकि उसका परिणाम प्रत्यक्ष दर्शन है। यज्ञ के पूर्तिकाल में जो अमृत-तत्त्व शेष बचता है, उसका दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश का नाम ही ज्ञान है। हे पार्थ! यावन्मात्र कर्म ज्ञान में ही शेष होते हैं। इस ज्ञान के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

सारांशतः भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ एक निर्धारित क्रिया है। जो लोग शास्त्रविधि से नियत अर्थात् गीता में नियत विधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञों से दम्भपूर्वक यजन करते हैं, यज्ञ है नहीं किन्तु नाम दे दिया कि यही यज्ञ है, ऐसे लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ

परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। ऐसे क्रूरकर्मी, पापाचारी नराधमों को मैं बारम्बार घोर नरक अर्थात् निम्न योनियों में गिराता हूँ। अतः गीता की विधि को त्यागकर अन्य किसी विधि से यज्ञ के नाम पर कोई कुछ भी करता है तो भगवान को खुश करने के स्थान पर अधम योनियों का अपने लिए आरक्षण ही करता है। *(देखें- गीता, १६/१५-२०)*

प्रश्न- सरकार! श्रीकृष्ण ने यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है?

उत्तर- बताया तो! चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। श्वास को प्रश्वास में हवन करना यज्ञ है। यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष का ध्यान करना यज्ञ है। इन्द्रियों का दमन यज्ञ है। मन का शमन यज्ञ है। एकाग्रता यज्ञ है। दैवी सम्पद् को बलवती बनाना यज्ञ है। शब्द, रूप इत्यादि विषयों के आशय को बदलकर साधन पर निरन्तर दृष्टि रखना यज्ञ है। चित्त की प्रवृत्ति को चलायमान न होने देना यज्ञ है। इस यज्ञों में आग नहीं जलती; किन्तु जिस प्रकार अग्नि में डाली हुई वस्तु भस्मसात् हो जाती है, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों का संयम, प्राण-अपान का निरोध ऐसा यज्ञ है कि प्रवृत्तियों सहित मन उसमें विलीन हो जाता है, उपराम हो जाता है और मन में स्थित चराचर जगत् की हवन-सामग्री दग्ध हो जाती है एवं अमृत-तत्त्व प्रगट हो जाता है। जिसका आस्वादन करनेवाला योगी अमृतस्वरूप सनातन ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है- **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* सभी यज्ञ कर्म से, मनसहित इन्द्रियों की क्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं। जगत् में भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ अल्प फलवाले हैं किन्तु हैं आवश्यक; क्योंकि पुण्य और पुरुषार्थ का आरम्भ उन्हीं से होता है।

किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण जाकर उनकी टूटी-फूटी सेवा करने से, उनकी बताई हुई क्रिया को कार्यरूप देने से योग-साधना का क्रम हृदय में जागृत हो जाता है। इसलिए यज्ञ-प्रकरण के समापन पर श्रीकृष्ण किसी तत्त्वस्थित महापुरुष की शरण में जाने का निर्देश देते हैं-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। *(गीता, ४/३४)*

अर्जुन! उस यज्ञ को जानने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ। उन्हें भली प्रकार दण्ड-प्रणाम करो, उनकी सेवा करो। निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न करके उस ज्ञान को जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। यह क्रियात्मक पथ है। केवल किताब पढ़कर नहीं, बल्कि करने से ही आता है। तत्त्वस्थित महापुरुषों के माध्यम से आत्मा जागृत हो जाती है। वही आत्मा से रथी होकर उसको संचालित करते हुए इन यज्ञों से अवगत कराते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! मुक्त पुरुषों के लिए यज्ञ की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वे किसी को यज्ञ का उपदेश क्यों करेंगे?

उत्तर- नहीं, वे करेंगे! लोक-शिक्षण उनका कर्त्तव्य है। यदि वे मार्गदर्शन न करें तो लोक ही भ्रष्ट हो जायँ और वे वर्णसंकर के कर्ता होंगे। इसके अतिरिक्त अठारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा करते हुए अपने निश्चय को व्यक्त करते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं। यह विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करनेवाले हैं, महापुरुषों के लिए भी उपादेय है- परहित के लिए। अतः यज्ञ की क्रियात्मक जानकारी के लिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों की शरण, उनकी सेवा, उनका सान्निध्य, सत्संग, दर्शन, ध्यान नितान्त आवश्यक है।

।। ॐ ।।

४. कर्म

भगवान के प्रति समर्पित होकर किया गया कार्य ही कल्याणप्रद होता है। भगवान वही व्यवस्था देते हैं जिसमें भक्त का कल्याण निहित है। साधक भटक भी जाता है तो भगवान उसकी उँगली पकड़कर उसका कार्य सम्पन्न करा देते हैं। हमारे पूज्य गुरु महाराज कहते थे– ''हो! हम पतित होना चाहे तबौ न हो पाउब। भगवान हमें पतित होने ही नहीं देंगे। पतित हो कहाँ से जायेंगे? मन की लगाम पकड़कर तो भगवान बैठे हैं। कहीं भी जायेंगे, भगवान घसीटकर, लाकर वही खड़ा कर देंगे, जहाँ से चलना है।'' अर्जुन भगवान पर निर्भर होकर चल रहा था इसलिए उसे सफलता मिली। जो साधक समर्पण के साथ चिन्तन करता है, चाहे कितने भी विघ्न आयें, भगवान पार लगा देते हैं।

समर्पित साधक भी कभी-कभी भूल कर बैठते हैं। महाभारत युद्ध समाप्त हो चला था। कौरवों के पक्ष में केवल एक महारथी कर्ण बचा था। अर्जुन को लगा कि केवल कुछ ही दिनों में कौरवों की सेना समाप्तप्राय हो गयी, यह सब मेरे दिव्य अस्त्रों का प्रभाव है। भगवान ने देखा कि यह तो अपनी पीठ ठोंक रहा है, इसने तो मुझे छोड़ दिया! भगवान ने उसे सचेत करना चाहा– अर्जुन! कैसा युद्ध कर रहे हो? शत्रु प्रबल है। जब तक कर्ण जीवित है, तुम वहीं खड़े हो जहाँ युद्ध के आरम्भ में थे। यह अकेला कर्ण सम्पूर्ण सेना के बराबर है। अर्जुन तैश में आकर बाण चलाने लगा। भगवान ने टोंका– अरे! तुम्हें दिव्यास्त्रों का स्मरण तो है, धनुर्विद्या पर तुम्हारी पकड़ ढीली तो नहीं हो गयी? कैसा युद्ध कर रहे हो? अर्जुन ने बाणों की वृष्टि कर कर्ण का रथ सैकड़ों कदम पीछे ढकेल दिया। और जब कर्ण ने बाण चलाया तो अर्जुन का रथ तीन कदम पीछे हो गया। भगवान उठकर खड़े हो गये, बोले– कर्ण साधुवाद! तेरे जैसा योद्धा तो कदाचित् ही जन्म लेते

हैं। तुम्हारे गुरु धन्य! तुम्हारे माता-पिता धन्य! तुम धन्य हो कर्ण! अर्जुन, तुम्हें हो क्या गया है? गुरु की दी हुई विद्या का तुम्हें स्मरण तो है?

अर्जुन की समझ में नहीं आया कि कहाँ तो मैं उसके रथ को सौ कदम पीछे करता हूँ तो आप झिड़कियाँ दिये पड़े हैं, इसने तीन कदम पीछे कर दिया तो साधुवाद की झड़ी लगा रहे हैं। बात क्या है? भगवान ने कहा– देखो! यह दिव्य रथ है, दिव्य घोड़े हैं, ध्वज पर हनुमानजी बैठे हैं, त्रिलोकी का भार लेकर स्वयं मैं बैठा हूँ, तो भी कर्ण सम्पूर्ण त्रिलोकी को तीन कदम पीछे कर रहा है। तुम साधारण से रथ को सौ कदम पीछे कर ले गये तो क्या हुआ!

अर्जुन ने देखा कि यह कुछ करते भी नहीं हैं, कभी लगाम तो कभी चाबुक हिला देते हैं और कहते हैं कि त्रिलोकी का भार लेकर बैठे हैं। भगवन्! आप कृपया उतर जाइये। भगवान मुस्कुराये और उतर गये। ज्यों ही भगवान का चरण पृथ्वी पर पड़ा, कर्ण का बाण रथ में लगा, रथ पृथ्वी को छोड़कर बवण्डर में फँसे पत्तियों की तरह आकाश में चक्कर काटने लगा। बहुत दूर जाकर गिरा। रथ का तो कुछ नहीं बिगड़ा, सभी कुछ दिव्य था। एक घड़ी पश्चात् भागता हुआ अर्जुन आया, बोला– भगवन्! शीघ्र रथ पर बैठिये, मेरी युद्ध-पिपासा पूर्ण हो गयी है। अब मैं भली प्रकार समझ गया कि मेरा किया धरा कुछ होता नहीं, कर्त्ता-धर्त्ता तो आप हैं। ये मेरे दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र कुछ भी नहीं हैं। भगवान ने प्रार्थना स्वीकार की, रथ पर बैठे। युद्ध हुआ, कर्ण मारा गया और अर्जुन की विजय हुई।

अत: जो समर्पण के साथ साधना करता है, कर्म करता है, उसके योगक्षेम का निर्वहन भगवान स्वयं करते हैं। साधना साधक को ही करनी पड़ती है लेकिन उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह भगवान की देन है। साधक तो निमित्त मात्र है। आइये, देखें गीतोक्त कर्म का स्वरूप–

प्रश्न- महाराजजी! श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर कर्म करने पर बहुत बल दिया है। वह कर्म क्या है?

उत्तर- देखिये, प्रत्येक महापुरुष की दृष्टि में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है-

करम एक आराधना, जेहि विधि रीझै राम।
सो करता करनी करै, पल पल पलटत नाम।।

एकमात्र आराधना ही कर्म है। वह प्रक्रिया ही कर्म है जिससे राम रीझ जायँ, अनुकूल हो जायँ। वही उस कर्म-विशेष का कर्ता है जो क्षण-क्षण में नाम को पलटता तथा उसका स्मरण करता रहता है। आदि शंकराचार्य की मान्यता है, **'क्वा कर्म यत्प्रीति करं मुरारे।'**- कर्म क्या है? जिससे भगवान के चरण-कमलों में अटूट प्रीति का संचार हो जाय। गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार-

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। *(मानस, २/२६०/१)*

उस सुख, कर्म और धर्म में आग लग जाय, जहाँ भगवान राम के चरण-कमलों में स्नेह न हो। तात्पर्य यह है कि एकमात्र भगवान के चरण-कमलों में स्नेह, उनकी प्राप्ति करानेवाली प्रक्रिया ही कर्म है। ठीक इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ है- आराधना।

युद्धस्थल में स्वजन-समुदाय को देखकर अर्जुन अधीर हो उठा। अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? वास्तव में अनुरागी ही अर्जुन है। प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या होती है। चिन्तन-पथ में प्रवृत्त होते समय पहले तो बड़ा भाव रहता है किन्तु जब लौकिक सम्बन्धों को त्यागने का स्तर आता है, तब वह

अधीर हो उठता है। उस समय परिवार का मोह, ननिहाल का मोह, साथियों का मोह और गुरुजनों का मोह उसे घेर लेता है। जब अनुरागी घर से अलग हो ही गया तो उसके लिए घरवाले मर गये और घरवालों के लिए वह। उस समय प्रबल मोह से साधक विचलित होने लगता है। अर्जुन ने भी अपने परिवार को मौत के मुहाने पर देखा तो बोला- मैं युद्ध नहीं करूँगा। अपने ही परिवार को मारकर मैं सुखी कैसे होऊँगा? इस प्रकार तो कुलधर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है, सनातन है, पुरातन है। इस प्रकार के युद्ध से पिण्ड-परम्परा लुप्त हो जाएगी, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी; वर्णसंकर पैदा होंगे। वह वर्णसंकर कुल एवं कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए उद्यत होते हैं। इस प्रकार अपने को ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण को भी लांक्षित किया कि आप भी पाप करने जा रहे हैं। अन्त में ऐसा स्पष्ट कहकर कि, ''गोविन्द! मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा।'' रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

अर्जुन यदि न लड़े तो युद्ध का प्रश्न ही खड़ा न हो, क्योंकि उसके ऊपर ही सारा महाभारत आधारित है। पाण्डव-पक्ष में अर्जुन के अतिरिक्त कोई दुर्धर्ष योद्धा नहीं, जिस पर युधिष्ठिर निर्भर हो सके, **'पल लागत अर्जुन हतैं छुए न दूजो बान।।'** वही तो एक विशिष्ट योद्धा था। उस अधीर अर्जुन को एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर श्रीकृष्ण ने उस कर्म को दृढ़ाया ही नहीं बल्कि उस पर अर्जुन को चला भी दिया। अतः विचारणीय है कि वह कर्म है क्या? अर्जुन ने पहले ही कह दिया था कि पृथ्वी एवं स्वर्ग के धनधान्यसम्पन्न साम्राज्य का अकण्टक स्वामी बनने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखा देनेवाले शोक को मिटा सके। अतः यदि इतना ही मिलनेवाला है तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। हाँ, यदि इससे भी आगे कोई सत्य हो तो उसे आप मेरे प्रति कहिए। तब भगवान श्रीकृष्ण ने उस सत्य पर प्रकाश डाला कि आत्मा ही सत्य है, आत्मा परम सत्य है। वही

शाश्वत एवं सनातन है। वही अजर, अमर एवं सर्वव्याप्त है; किन्तु अजर, अमर जैसी कोई सत्ता दिखायी नहीं देती। आये दिन शोक, मोह, सन्ताप ही दिखाई देता है। फिर जो आत्मा सबमें व्याप्त है तो ढूँढ़ा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! आत्मा को इस रूप में केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा, सबने नहीं। यह आत्मा अचिन्त्य है- जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक यह विदित नहीं होता। कोई विरला महापुरुष ही इसे जानता है। विरला ही इसे आश्चर्य की तरह सुनता है। सब न सुनते हैं और न जानते हैं क्योंकि क्रिया ही नहीं जानते। इसलिए अर्जुन! तू इसकी प्राप्ति के लिए युद्ध कर। क्षत्रिय के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न- महाराजजी! अर्जुन यदि क्षत्रिय श्रेणी का साधक था तो उसे परिवार का मोह नहीं होना चाहिए था?

उत्तर- देखिए, शास्त्र की रचना पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए ही होती है। जो सामने है, वह तो पार हो ही जाता है। अतः लिखने की क्या आवश्यकता थी? गीता के समापन पर श्रीकृष्ण इसके प्रचार-प्रसार का निर्देश भी देते हैं। वस्तुतः अर्जुन को निमित्त बनाकर वे सभी साधकों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन आज क्षत्रिय बना, कभी तो उसकी साधना का भी आरम्भ था। आरम्भिक अवस्था में अनुरागी के समक्ष परिवार की समस्या आती है। स्वजनों का त्याग महान् कष्टदायी होता है अतः वहीं से गीता का प्रारम्भ श्रीकृष्ण करते हैं।

श्रीकृष्ण ने समझाया कि पार्थ! यह युद्ध क्षत्रिय के लिए खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई धर्म नहीं है। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो वैरी तुझे भय के कारण रण से उपराम हुआ समझेंगे। जिनसे तूने सम्मान पाया है उनकी दृष्टि से भी गिर जायेगा। हारेगा तो स्वर्ग पायेगा और जीतेगा तो **'भोक्ष्यसे महीम्'**-महामहिम स्थिति को प्राप्त होगा।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! 'महीम्' का अर्थ तो पृथ्वी होता है?

उत्तर- ठीक है, पृथ्वी को भी मही कहते हैं। वह सबका उदर-पोषण करती है, उसकी बड़ी महिमा है इसलिए उसका एक नाम मही भी है; किन्तु सबसे महान् महिमा तो उस महा महिमामय की है जहाँ से महिमा का प्रसार होता है। **'महिम्नः पारन्ते'**- जिसकी महिमा अपार है, श्रीकृष्ण उसी महीम् स्थिति का प्रलोभन देते हैं। अर्जुन पहले ही त्रैलोक्य का राज्य ठुकरा चुका है। वह उससे भी आगे का कोई सत्य पाना चाहता है अतः केवल पृथ्वी के भोगों का प्रलोभन श्रीकृष्ण क्यों देते और अर्जुन क्यों इतने के ही लिए तैयार हो जाता? सिद्ध है कि यह कोई ऐसा युद्ध है जो महामहिम स्थिति को दिलाता है। अतः जीतोगे तो सर्वस्व मिलेगा और हारोगे तो देवत्व को प्राप्त करोगे। जीवन भर दैवी सम्पत्ति का ही अर्जन किया है, उसी देवत्व को प्राप्त होगे। इस दृष्टि से हानि और लाभ, सिद्धि और असिद्धि दोनों को समान समझकर युद्ध कर!

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि 'युद्ध कर'। अपना हानि-लाभ देखते हुए युद्ध करना ही 'ज्ञानयोग' है।

प्रश्न - किन्तु महाराजजी! कई टीकाकारों ने लिखा है कि "मै ज्ञानी हूँ, मै पूर्ण हूँ, आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरतती हैं।"- ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है।

उत्तर- ऐसा कैसे होगा कि कल घर छोड़ा और आज पूर्ण हो गये? हृदय में तो काम छाया है, क्रोध छाया है; देखने से क्या सच्चिदानन्दघन दिखाई देगा? टीकाकार कुछ भी लिखें, श्रीकृष्ण ऐसा नहीं कहते। श्रीकृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अविकारी, अचल एवं सनातन बताया वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा

को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अन्यत्र वे कहते हैं- ''अर्जुन! जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है; अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे।'' कौन कहता है कि आत्मा अजर, अमर और शाश्वत है? यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा अधोगति में जाती है। आत्मा का उद्धार होता है। ज्ञानयोगियों ने यह तो रट लिया कि मैं पूर्ण हूँ, यह क्यों नहीं याद किया कि आत्मा अधोगति में भी जाती है? वस्तुतः मनसहित इन्द्रियों के जीतने पर ही आत्मा का दिग्दर्शन सम्भव है। उसके लिए कर्म तो करना ही पड़ेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना ज्ञानयोग नहीं है।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। *(गीता, २/३९)*

अर्जुन! अब तक यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी, इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। दोनों में क्रिया एक ही है, केवल कार्य-प्रणाली का अन्तर है, बुद्धि का अन्तर है। ज्ञानयोग में अपना हानि-लाभ स्वयं देखते हुए युद्ध किया जाता है जबकि निष्काम कर्मयोग में इष्ट पर निर्भर होकर युद्ध किया जाता है। उसके हानि-लाभ का विचार इष्ट करते हैं। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। इसका थोड़ा-सा भी साधन करते बन गया, यह क्रिया आरम्भ भर हो जाय फिर माया के पास ऐसा कोई यंत्र नही है जो उसे नष्ट कर दे। माया केवल आवरण डाल सकती है, देर कर सकती है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। कागभुशुण्डि को दस हजार जन्म लगे। श्रीकृष्ण दस जन्मों

से योगी थे। महाराजजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि सात जन्म से साधु थे। अतः इस निष्काम कर्मयोग का रंचमात्र आचरण भी जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार करके ही छोड़ता है। **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'** *(गीता, ६/४५)* शिथिल प्रयत्नवाला साधक भी अनेक जन्मों के हेर-फेर से उसी स्थान पर पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति या परमधाम है। यह साधन सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है, फिर आगेवाली सीढ़ी तो भगवान स्वतः पकड़ायेंगे कि अब त्याग करो। उस समय त्याग करने की क्षमता भी रहेगी। आज हम जिसे छोड़ना नहीं चाहते, उस समय इसी को छूना भी नहीं चाहेंगे। इस निष्काम कर्मयोग में सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि ऋद्धियों-सिद्धियों या स्वर्ग तक ही पहुँचाकर छोड़ दे। **'स्वल्पमपस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**- इसका स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के महान भय से छुटकारा दिलाकर ही शान्त होता है। धर्म बदलता नहीं।

कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है, दिशा एक है। तब जो लोग बहुत-सी क्रियायें बताते हैं क्या वे भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं- वे भजन नहीं करते। अज्ञानियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है, इसलिए भजन की ओट में बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। ऐसे लोगों के वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ऐसे लोग स्वर्ग को ही परमश्रेष्ठ माननेवाले होते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी से वेद के उन्हीं बातों में अनुरक्त रहते हैं जिससे भोगैश्वर्य की वृद्धि हो। सिद्ध है कि कर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड कर्म नहीं है। फलासक्ति से किया जानेवाला कर्म, कर्म नहीं है। अर्जुन! तू फल की वासनावाला मत हो। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। इसके साथ ही कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसमें बुद्धि

को इष्ट के अधीन रखना होता है, इसलिए निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग भी कहते हैं। इसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव है, इसलिए यह निष्काम कर्मयोग कहलाता है। क्रमशः उत्थान करते-करते यह इष्ट के साथ समत्व की स्थिति दिला देता है, इसलिए यह समत्व योग कहलाता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में इन्द्रिय सहित मन के निरोध का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि विषयों में विचरती हुई जिस भी इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह अकेली इन्द्रिय ही इस अयुक्त मन का अपहरण कर कहीं ले जाकर उसी प्रकार पटक देती है जैसे वायु नाव का हरण कर लेती है। इसलिए महाबाहो! इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से समेटकर कर्म का आचरण कर।

अर्जुन को कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग में सरलता दिखाई पड़ी। ज्ञानमार्ग में अनुरागी हानि-लाभ का स्वयं विचार कर निर्णय लेता है। साधना पूरी हो जाय तो महामहिम स्थिति मिलती है और इसके पूर्व शरीर का समय समाप्त होने पर देवत्व मिलता है जबकि निष्काम कर्मयोग में कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। यह तो निश्चित है कि कभी-न-कभी हम कर्म-बन्धन से छूट जायेंगे; किन्तु कब, कितना छूटेंगे?- अभी से कोई निर्णय नहीं। केवल कर्म कर! ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। मिलना-जुलना कुछ नहीं और करने में अश्रद्धा भी न हो। कौन अकारण खाक छानता फिरे? हाँ, अन्त में कभी कल्याण हो जायेगा। इससे अच्छा तो ज्ञानयोग है जिसमें साधक अपनी गति-प्रगति को देखते हुए चलता है।

तीसरे अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। *(गीता, ३/१)*

"भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? (कर्मयोग में अर्जुन को भयंकरता दिखाई देती है।) मिले हुए से वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को

मोहित क्यों करते हैं? कृपया निश्चित करके उस एक मार्ग को कहिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।'' अर्जुन परम कल्याण का इच्छुक था।

भगवान कहते हैं- अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही गयी है। *(पहले का तात्पर्य सतयुग या त्रेता नहीं बल्कि अभी-अभी अध्याय दो में कह आये हैं। इसी को सुनकर तो अर्जुन का प्रश्न खड़ा हुआ।)* ज्ञानियों को ज्ञानयोग से और योगियों को निष्काम कर्मयोग से; किन्तु किसी भी मार्ग में कर्म को छोड़ने का विधान नहीं है। कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। ऐसा नहीं है कि कर्म को न करके कोई नैष्कर्म्य की परम सिद्धि को प्राप्त कर ले। निष्कर्म का आशय अकर्मण्य नहीं होता। हम कुछ न करें तो हो गये निष्कर्मी? कोई ऐसा बचाव न ढूँढ़ लें इसलिए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया- अर्जुन! कर्मों को न करने से न तो कोई नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त होता है और न आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से कोई संन्यास की परमसिद्धि पाता है। बहुत से लोग कहते हैं- हम तो ज्ञानी हैं, अग्नि नहीं छूते, हमारे लिए भजन का कोई विधान नहीं है। आगे कोई परमात्मा नहीं है तो किसको भजें?, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि प्राप्ति के पश्चात् ठीक ऐसा ही है लेकिन किये बिना कोई पाता नहीं। श्रीकृष्ण इस पर बल देते हैं कि क्रिया का त्याग करके न तो कोई निष्कर्मी बनता है और न तो संन्यास की परमसिद्धि को ही पाता है। अब आपको ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा; क्योकि कोई पुरुष क्षणमात्र कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

प्रश्न- महाराजजी! अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ के पूर्तिकाल में ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। सम्पूर्ण कर्मों की ज्ञान पराकाष्ठा है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म विलय हो जाते हैं। ऐसे पुरुष द्वारा कर्म होते ही नहीं और यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि

ज्ञानयोग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही होगा। ऐसा विरोधाभास क्यों?

उत्तर- श्रीकृष्ण कहते हैं, **'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।'** *(गीता, ३/५)*- प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा विवश जीव हर हालत में क्रिया में बरतता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का मस्तिष्क पर दबाव है, तब तक किसी-न-किसी रूप में कर्म तो करना ही होगा। प्रकृति के आश्रित हुआ पुरुष कर्म किये बिना नहीं रह सकता; किन्तु जिस समय **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'** *(गीता, ४/१९)*- ज्ञान में कर्म विलीन हो जाता है उस समय प्रकृति का भी विलय हो जाता है, इसलिए उस पुरुष द्वारा कर्म नहीं होता। अतः जब तक पुरुष प्रकृति से पार नहीं हो जाता, तब तक कर्म करना ही पड़ता है। फिर भी जो पुरुष हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं और कहते हैं- मैं ज्ञानी हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं परमतत्त्व में स्थित हूँ, श्रीकृष्ण कहते हैं- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं। अतः अर्जुन! तू नियत कर्म को कर।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। *(गीता, ३/८)*

सिद्ध है कि कर्म बहुत से हैं, उनमें से कोई एक निर्धारित किया गया है। सोलहवें अध्याय के अन्त में कहते हैं- जो पुरुष शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा से बरतता है वह न तो सिद्धि को ही प्राप्त होता है और न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त होता है। इसलिए कर्म और अकर्म की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्र द्वारा नियत कर्म को कर। किस शास्त्र द्वारा नियत? यहाँ अन्य शास्त्रों से तात्पर्य नहीं; गीता शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म कर। गीता स्वयं में पूर्ण शास्त्र है- **'इति गुह्यतमं शास्त्रं'** *(गीता, १५/२०)* व्यासजी ने भी कहा- **'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।'** *(महाभारत, भीष्मपर्व, ४३/१)* कर्म न करने की अपेक्षा

कर्म करना श्रेयतर है क्योंकि करने से कुछ दूरी तय तो होगी। कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न- महाराजजी! शरीर-यात्रा का क्या अर्थ है? क्या शरीर-निर्वाह नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, आप शरीर तो हैं नहीं! यह जीवात्मा युग-युगान्तरों से शरीरों की यात्रा करता आ रहा है। कीट-पतंग, देव, दानव, मानव इत्यादि योनियों को यह जीवात्मा बदलता रहता है। यह यात्रा तब पूरी होती है जब यह शाश्वत ब्रह्म में समाहित हो जाय। यदि एक जन्म भी लेना पड़ा तो यात्रा अभी जारी है।

सिद्ध है कि कर्म ऐसी वस्तु है जो आत्मा की शरीर-यात्रा पूर्ण कराती है। यह आत्मा को वह अचल स्थिति दिलाती है, जिसके पश्चात् शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नियत कर्म है क्या? श्रीकृष्ण उस नियत कर्म पर प्रकाश डालते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। *(गीता, ३/९)*

यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'**- इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** *(गीता, ४/१६)*- संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला है। कर्म तो शरीर-यात्रा पूर्ण करानेवाला है। इसीलिए अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संगदोष से अलग रहकर कर्म का आचरण कर। कर्म एक ऐसी विधा है जिसका आचरण संग-दोष के रहते असम्भव है। इसलिए संग-दोष से अलग रहकर यज्ञ की पूर्ति के लिए भली प्रकार कर्म का आचरण कर।

अब एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है कि वह यज्ञ है क्या जिसकी प्रक्रिया ही कर्म है? कर्म वही है जिससे यज्ञ सम्पन्न होता है, तो वह यज्ञ कौन-सा है, क्या है? उस यज्ञ में क्या करना पड़ेगा? यज्ञ की उत्पत्ति एवं विशेषताओं का सविस्तार निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- इस यज्ञ से देवत्व की वृद्धि करो। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी त्यों-त्यों तुम्हारी प्रगति होगी। इस प्रकार परस्पर क्रमशः उत्थान करते-करते परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। यह यज्ञ ऐसा है कि जो परमकल्याण के नीचे की बात नहीं करता। अध्याय चार में श्रीकृष्ण बताते हैं कि बहुत से योगी देवयज्ञ करते हैं, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाते हैं। (विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, ध्यान, समाधि, चिन्तन की प्रवृति-यही सब दैवी सम्पत्ति हैं, सोलहवें अध्याय में जिसका विशद विवेचन है)। इसी को भली प्रकार स्थायित्व देने के लिए साधन करते हैं। दूसरे योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। बहुत से साधक शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् विषयों के प्रति अपना भाव बदल देते हैं। बहुत से योगी योग-यज्ञ अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा इसी यज्ञ को करते हैं, तो अनेक स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ द्वारा स्वयं को सामने रखकर अपनी भलाई-बुराई, हानि-लाभ का स्वयं निर्णय करके इस यज्ञ का आचरण करते हैं। ज्ञानयोगी स्वयं पर आश्रित रहता है, जब कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर उसी क्रिया को करता है। यज्ञ एक ही है; कर्त्ता दो शैलियों के हैं। बहुत से योगी प्राण को अपान में और अनेक अपान को प्राण में हवन करते हैं अर्थात् श्वास-प्रश्वास का चिन्तन करते हैं। बहुत से योगी प्राण-अपान की गति रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं जिससे प्राणों की गति का याम हो जाता है, सर्वथा निरोध की अवस्था आ जाती है। न भीतर से संकल्प उठते हैं न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस यज्ञ की प्रक्रिया में चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। जगत् है तो लम्बा-चौड़ा किन्तु मनुष्य के लिए उतना ही है जितना मन पर अंकित है। मन के निरोध

के साथ ही जगत् पर विजय है। श्रीकृष्ण कहते हैं, **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'**- उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व की स्थिति और संसार जीतने से क्या सम्बन्ध? अगर संसार जीत लिया गया तो वह पुरुष रहा कहाँ? **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।'** *(गीता, ५/१९)* वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उसका मन भी समत्व की स्थितिवाला हो गया इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। उस रहनी में संसार होता ही नहीं। इस प्रकार जब प्राण-अपान की गति का निरोध हो गया (संकल्प शान्त हो गये, सिद्ध है वह मन की निरोधावस्था है)। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है, **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* यज्ञ के परिणामस्वरूप उत्पन्न उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। इस यज्ञ के पूर्तिकाल में मन का सर्वथा निरोध और निरोध के साथ ही वह परमात्मा जो है, जिन विभूतियों और जिन गुणधर्मोंवाला है, विदित हो जाता है। ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन का ही नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत का पान करने वाला योगी सनातन शाश्वत ब्रह्म में प्रविष्ट एवं स्थित हो जाता है। अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा सिद्ध होनेवाले हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं- भौतिक वस्तुओं से सिद्ध होनेवाला यज्ञ अत्यन्त अल्प है। है वह भी यज्ञ, क्योंकि प्रारम्भ वहीं से होता है; किन्तु इन यज्ञों की तुलना में अत्यन्त अल्प है। जिन यज्ञों पर श्रीकृष्ण ने बल दिया है, वे सभी उन्हीं के शब्दों में मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं। *(गीता, ४/३२)*

यह श्वास-प्रश्वास का हवन यदि फरसा चलाने से होता हो तो कीजिए। प्राण-अपान की गति का निरोध कपड़ा बेचने से होता है तो कीजिए, नौकरी या नेतागिरी से होता हो तो कीजिए। सिद्ध है कि दुनिया में जो कुछ किया-कराया जाता है, जिसमें लोग दिन-रात व्यस्त रहते हैं; वह

कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का एक बंधन है। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है अर्थात् कर्म का तात्पर्य आराधना है। इस आराधना में बहुत से योगी देवयज्ञ करते हैं। अनेक ज्ञानयज्ञ एवं योगयज्ञ करते हैं तो कई प्राण को अपान में और अपान को प्राण में हवन करते हैं। लगता है जैसे अनेक प्रकार के योगी हों। किन्तु नहीं, ये सभी एक ही साधना की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक साधक को इन सभी भूमिकाओं से गुजरना पड़ता है। प्रारम्भ में प्रत्येक साधक दैवी सम्पद् को बलवती बनाता है। शनैः-शनैः वह संयमाग्नि पर पहुँचता है, तत्पश्चात् शब्दादि संग-दोषों से बचने की युक्ति में प्रवेश पाता है, क्रमशः श्वास-प्रश्वास में प्रवेश पा जाता है और श्वास-प्रश्वास का निरोध होते ही मन के लय की स्थिति में यज्ञ के परिणाम पर पहुँचता है। यह सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार जो भी जानते हैं, यज्ञ के भेद के जानकार हैं। ये सभी यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्तःक्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं, इनमें भौतिक द्रव्यों का उपयोग नहीं है। इस प्रकार श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है? इस विषय में बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी भ्रमित रहते हैं। इसलिए कर्म के उस तत्त्व को मैं तेरे लिए कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से सर्वथा छूट जायेगा-*(गीता, ४/१६-१७)*। अतः कर्म ऐसी प्रक्रिया है जो संसार-बन्धन से छुड़ाती है। कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों के स्वरूप को जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है। कर्म में अकर्म देखना चाहिए अर्थात् आराधना तो करें किन्तु यह न सोचें कि मैं आराधना करता हूँ, करानेवाली सत्ता तो कोई और है। बैल हल नहीं जोतते यद्यपि हल का सम्पूर्ण भार बैलों के कन्धे पर रहता है। हल तो वह हलवाहा जोतता है जो बैलों के पीछे रहकर दिशा-निर्देशन करता रहता है, अन्यथा बैल क्या जानें कि किधर जोतना है? इसी प्रकार सम्पूर्ण साधना साधक को ही करनी पड़ती है लेकिन

उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह उसी प्रेरक की देन है, संचालक की देन है। भजन तो स्वयं हरि करते हैं, साधक तो मात्र यंत्र है। वह जिधर संकेत करें, उधर लुढ़कता भर रहे, यही भजन है। इस प्रकार कर्म में अकर्म देखने की क्षमता आ गयी उसी को कर्म जानें। कर्म में अकर्म देखें और अकर्म को (इष्ट के आदेशों को ही) कर्म जानें। इस प्रकार जो करता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है। केवल इष्ट के आदेशों पर चलनेवाला व्यक्ति ही सम्पूर्ण कर्म को करता है, जिससे किंचित् मात्र भी भूल होने की सम्भावना नहीं रहती। कर्म एवं अकर्म से उन्नत विकर्म की स्थिति है। विकर्म अर्थात् विशेष कर्म, अर्थात् जो प्राप्तिवाले महापुरुषों द्वारा लोकहितार्थ होता है। 'वि' उपसर्ग यहाँ पर विशिष्टता का द्योतक है, जैसे-जितेन्द्रिय में 'वि' उपसर्ग लगाने से विजितेन्द्रिय शब्द सृजित होता है, जिसका अर्थ है- विशेष रूप से जीती हुई इन्द्रियाँ। इसी प्रकार विकर्म अर्थात् विशेष कर्म। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों द्वारा किया गया विशिष्ट कर्म ही विकर्म है।

प्रश्न उठता है कि साधक सदैव कर्म करता रहेगा या कभी छुटकारा भी मिलेगा? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गयी, जहाँ काम और संकल्प नहीं हैं। काम और संकल्पों का निरोध होना मन की विजेतावस्था है। मन का प्रसार ही तो जगत् था। जब मन का निरोध हो गया तो वह अव्यक्त, शाश्वत परमतत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**-उस जानकारी के साथ ही कर्म सदा के लिए जल जाते हैं। ऐसी स्थितिवालों को बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित एवं

ज्ञाता कहकर सम्बोधित किया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन को कामनाओं और संकल्पों से ऊपर उठा देती है। सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति में कामनायें बढ़ती जाती हैं। अतः वास्तविक कर्म आराधना ही है जिसमें साक्षात् जानकारी के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रहता। इसलिए कामनाएँ भी नहीं रह जातीं।

अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण कहते हैं-अर्जुन! संसार में मनुष्य दो प्रकार का होता है- एक देवताओं-जैसा; दूसरा असुरों-जैसा। किस प्रकार? श्रीकृष्ण कहते हैं- अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति एवं नीच योनियों में फेंकने के लिए है, जबकि दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए है। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, सरलता, सही जानकारी, धारावाही चिन्तन, ध्यान, समाधि इत्यादि दैवी सम्पद् के छब्बीस लक्षण गिनाये जो सब-के-सब प्राप्ति के समीपवाले महापुरुषों में सम्भव हैं; आंशिक रूप से हममें आप में भी हो सकते हैं। अर्जुन! तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है। शोक मत कर! तू मुझमें निवास करेगा। तदनन्तर, श्रीकृष्ण आसुरी सम्पद् का सविस्तार वर्णन करते हैं। काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर इत्यादि आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि 'मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और होगी। मैं ही ईश्वर एवं ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। ईश्वर नाम की और कोई सत्ता नहीं है। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उत्पन्न है यही सत्य है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान करूँगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया, भविष्य में मैं उसे मारूँगा।'-अर्जुन! ऐसा सोचनेवाला अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा को कृश करनेवाला है। वे शत्रुओं को नहीं मारते बल्कि मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं। अर्जुन! ऐसे मनुष्यों को मैं नीच योनियों में ही बार-बार गिराता हूँ। वे मुझे को प्राप्त न होकर, जो उन्हें प्राप्त है, उससे भी नीच योनि को प्राप्त होते हैं। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? यदि वह प्रण करके किसी को मारता, सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहता तो श्रीकृष्ण

में निवास कभी न करता। कर्म तो संसार-बन्धन से छुड़ाता है, नीच योनियों में नहीं गिराता।

दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर गठित होती है; किन्तु आसुरी सम्पत्ति का आधार क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं, ''अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ही नरक के तीन द्वार हैं। इन्हीं पर आसुरी सम्पत्ति टिकी है। इन तीनों के त्याग देने पर ही उस कर्म का आरम्भ होता है जिससे परमगति, परमकल्याण की प्राप्ति होती है। *(गीता, १६/२१-२२)* अर्थात् कर्म वह प्रक्रिया है काम, क्रोध और लोभ को त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है।

प्रश्न- महाराजजी! जब काम, क्रोध, लोभ को त्यागने पर ही कर्म आरम्भ होता है तब तो साधारण मनुष्यों के लिए कर्म का विधान नहीं होना चाहिए; क्योंकि आरम्भ में वे छूटते नहीं, केवल मान लेने से त्याग तो नहीं हो जाता?

उत्तर- हाँ! प्रारम्भ में छूटते तो नहीं; किन्तु यही तो युद्ध है, इसी के लिए तो साधन किया जाता है। संसार इसी में अनुरक्त है और आप उसी को छोड़ना चाहते हैं, यही क्या कम है? ज्यों-ज्यों ये विकार अन्दर से घटते जायेंगे, त्यों-त्यों कर्म में प्रवेश मिलता जायेगा। विचारणीय तो यह है कि दुनिया में जो कुछ किया जाता है, जगत् जिसमें मोहित है, रात-दिन व्यस्त है, क्या कर्म नहीं है? उसमें जो जितनी सफलता पाता है काम, क्रोध और लोभ उसके भीतर उतने ही सजे-सजाये मिलते हैं, अधिक मात्रा में मिलते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन तीनों के त्याग देने पर ही उस कर्म का आरम्भ होता है। स्पष्ट है कि सांसारिक क्रिया-कलाप कर्म नहीं हैं। श्रीकृष्ण जिसे कर्म मानते हैं वह एकमात्र आराधना ही है। त्याग के बिना उसका आरम्भ ही नहीं होता। वह त्याग क्रमशः गति पकड़ता है और महापुरुषों के शरण-सान्निध्य द्वारा सहज हो जाता है।

प्रश्न- महाराजजी! जब त्याग के बिना गीतोक्त कर्म आरम्भ ही नहीं होता, तब तो गीता गृहस्थों के लिए बेकार है और घर त्याग देने से क्या कर्म आरम्भ हो जाता है? क्या काम, क्रोध, लोभ छूट जाते हैं?

उत्तर- गृह-त्याग मात्र से काम, क्रोध, लोभ नहीं छूटते। इन विकारों से छूटने के लिए एक परमात्मा में श्रद्धा अनिवार्य है। **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता, ४/३९)-** श्रद्धावाले लोग ही ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। **'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (गीता, ४/३९)** अर्थात् इस गीतोक्त साधन-पद्धति से भजन अर्थात् यज्ञ विधि से अनभिज्ञ श्रद्धारहित पुरुष का विनाश हो जाता है इसलिए कोई घर छोड़े चाहे घर में रहे, इन विकारों से मुक्त होने के लिए एक परमात्मा में अटूट श्रद्धा और उसे प्राप्त करने की नियत विधि की जानकारी, उस विधि से तन्मय होकर लगना अनिवार्य है। **'अपिचेत्सुदुराचारो' (गीता, ९/३०)-** अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजता है तो वह साधु मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। वास्तव में जो सत्य है, सत्त्व है, उसका निश्चय वहाँ स्थिर हो गया है, किन्हीं अंशों में उसने सत्य को साधा है इसलिए साधु मानने योग्य है। इतना ही नहीं, ऐसा दुराचारी भी **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' (गीता, ९/३०)-** वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। अर्जुन! निश्चयपूर्वक ध्रुव सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता (गीता, ४/३१)। इस प्रकार घर से चिपके रहना या घर छोड़ने का प्रश्न ही नहीं है। श्रद्धा से युक्त होकर एक परमात्मा में समर्पित होकर, गीतोक्त विधि समझकर उसका पालन करनेवाला इन विकारों से शनैः-शनैः मुक्त हो जाता है और शाश्वत शान्ति को भी प्राप्त कर लेता है। न तो गीता सुननेवाले अर्जुन ने ही घर छोड़ा, न गीता कहनेवाले श्रीकृष्ण ने; न संजय ने, न धृतराष्ट्र ने! अत्यन्त दुराचारी के स्तर से ही यह भजन की क्रिया आरम्भ होती है। गृहस्थ या विरक्त का यह भेदभाव अनावश्यक है। जो नियत विधि है उसका आचरण करें। स्तर उठता जाता है तो घर कोई

छोड़ता नहीं छूट जाता है, भगवान छुड़ा देते हैं। समय आने पर ही बाल पकते हैं, जन्म के बाद ही बच्चों को दाँत निकलते हैं, इसी प्रकार समय आने पर ही यह विकार शनैः-शनैः कम हो जाते हैं। आपको स्वयं गृह त्यागने की आवश्यकता नहीं है, केवल एक प्रभु में श्रद्धा स्थिर करके रखना है। आज आप इनको देखे बिना रह नहीं सकते, साधना उन्नत होने पर आप इन विकारों की ओर देखना भी नहीं चाहेंगे। वह एक अवस्था है।

प्रबल विरह-वैराग्य होने पर भगवान के लिए गृहत्याग से इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करनेवाली प्रवृत्ति तो शान्त होती ही है। प्रत्येक विषय की दो सीमायें होती हैं- एक तो निम्नतम सीमा, जहाँ से आप उसमें प्रवेश करते हैं और दूसरी अधिकतम सीमा होती है, जिसे पराकाष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए, भक्ति की निम्नतम सीमा वह है, जहाँ से समर्पण के साथ आप भजन आरम्भ करते हैं, किन्तु अधिकतम सीमा तो वह है जहाँ **'भग इति सः भक्ति।'** प्रकृति की इति है। प्रकृति से परे पुरुषत्व में स्थिति दिला देनेवाली अवस्था भक्ति की चरम सीमा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की दो सीमाएँ होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करना बन्द करके कर्म अर्थात् आराधना में प्रवृत्त होना काम, क्रोध, लोभ के त्याग की प्रवेशिका है और ज्यों-ज्यों मन निरुद्ध होता जायेगा, त्यों-त्यों विकारों का भी निरोध होता जायेगा और अन्ततः वे सर्वथा मिट जायेंगे। कर्म में आपको प्रवेश मिल जायेगा। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है जिसमें काम, क्रोध और लोभ के त्यागने पर ही प्रवेश मिलता है।

गीता (७/२८-२९) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।'**- अर्जुन! पुण्य कर्म अर्थात् कार्यम् कर्म, नियत कर्म या यज्ञ की प्रक्रिया कहकर जिसे गीता में बार-बार समझाया गया है, उस कर्म को करनेवाले जिन भक्तों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि के द्वन्द्व से भली प्रकार मुक्त होकर व्रत में दृढ़ रहकर मुझे भजते हैं तथा जो

मेरी शरण होकर जरा और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं, मुझे जानकर मुझमें ही स्थित हो जाते हैं अर्थात् कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो इन सबसे परिचय कराती है। इसीलिए कर्म माने आराधना, कर्म माने चिन्तन। तब अर्जुन ने प्रश्न किये, ''भगवन्! वह ब्रह्म क्या है? सम्पूर्ण अध्यात्म क्या है? कर्म कब सम्पूर्ण होता है?'' इत्यादि सात प्रश्न अर्जुन ने किये। भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया-

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।। *(गीता, ८/३)*

अक्षर-जिसका कभी नाश नहीं होता, वही परब्रह्म है। जिसे प्राप्त कर लेने पर भक्त का कभी क्षय नहीं होता। लोभ के भाव, पुत्र के भाव इत्यादि संसार के भाव सिमटकर 'स्व' में स्थिर हों, यही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। 'अधि आत्म' अर्थात् आत्मा का आधिपत्य। जीवों पर माया का आधिपत्य है, उससे छूटकर आत्मा का आधिपत्य, आत्मा की स्थिति आ जाय इसी का नाम अध्यात्म है। **'स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते।'**- स्वरूप में स्थिरभाव ही अध्यात्म है। **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।'**- भूतों के वे भाव जिनसे कुछ-न-कुछ संरचना होती है, उन पर विसर्ग लग जाना, उनका सर्वथा निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। भूत प्राणियों को कहते हैं। इन प्राणियों की उत्पत्ति संकल्प पर आधारित है। **'मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये।'** *(विनयपत्रिका, १२४/४)* भूत का तात्पर्य संकल्प से है अतः संकल्पों में उत्पन्न वे भाव जिनके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कुछ न कुछ संस्कारों की संरचना होती रहती है, जो कि संसार है, उनका विसर्ग-सर्वथा निरोध हो जाना, विराम-रोक लग जाना ही कर्म की पूर्णता है। इसके उपरान्त कर्म करने की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। कर्म वह वस्तु है जो संकल्पों पर विसर्ग लगा देती है। दूसरे शब्दों में, कर्म का तात्पर्य आराधना ही है।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में सम्पूर्ण गीता में कर्म पर भरपूर प्रकाश डाला गया है और सब मिलाकर उसका शुद्ध अर्थ है- 'आराधना', जो शाश्वत तत्त्व परमात्मा की उपलब्धि कराती है। 'यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है।', 'निर्धारित कर्म को ही कर, नहीं तो शरीर-यात्रा सिद्ध नहीं होगी।', 'कर्म करके तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा।', 'यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, इसी लोक का एक बन्धन है।', 'श्वास-प्रश्वास का चिन्तन यज्ञ है।', 'इन्द्रियों का संयम यज्ञ है।', 'कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो काम और संकल्पों से ऊपर उठा देती है।', 'काम, क्रोध, लोभ त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है।', 'भूतों के वे भाव, जिनसे कुछ-न-कुछ संरचना होती है उनका निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है।'-अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है, इसमें दो राय नहीं है। जिससे वे आराध्य देव सन्तुष्ट होते हैं, उस प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है।

गीता पर सहस्रों टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें पचासों टीकाएँ तो अकेले संस्कृत में ही हैं। पचीसों मत, जिनकी आधारशिला गीता है, एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात ही कही होगी, फिर इतना वैभिन्न्य क्यों? व्यवसायी कहते हैं- गीता में लिखा है, **'व्यवसायात्मिका बुद्धि'** ***(गीता, २/४१)***- व्यवसाय ही कर्म है। कपड़ा बेचो, कुछ धरम-करम कर लो, सवेरे शंकर जी पर जल चढ़ा दो, हो गया कर्म। नौकरीवाले कहते हैं- हम तो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, पूरी ड्यूटी देते हैं, यही निष्काम कर्म है। एक नायब तहसीलदार साहब कहते थे- बड़े साहब जो भी कहते हैं, उसी के अनुसार मैं कर्म करता हूँ। गीता मैंने अपने जीवन में ढाल ली। हमारी कोई कामना नहीं है। हम निष्काम कर्मयोगी हैं। वाह रे योगी! अतः आप किसी भी टीका पर न जायँ, योगेश्वर की मूलवाणी ही ग्रहण करें तो कोई सन्देह नहीं होगा।

प्रत्यक्ष दर्शनवाले अनेक महापुरुष पढ़े-लिखे नहीं थे। रामकृष्ण परमहंस पढ़े-लिखे नहीं थे। हमारे महाराज भी एकदम नहीं पढ़े थे। राम लिखना भी उन्हें ठीक से नहीं आता था। देखरेख करके येन-केन प्रकारेण राम की लकीर खींच लेते थे। जड़भरत पढ़े-लिखे नहीं थे। काकभुशुण्डि पढ़े-लिखे नहीं थे, **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।'**- पिता हताश हो गये परन्तु वे नहीं पढ़े। ठीक इसी प्रकार बहुत से महापुरुष ऐसे मिलेंगे जो पार्थिव शिक्षा-दीक्षा में शून्य थे लेकिन अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। काकभुशुण्डि आश्रम में भगवान शंकर भी जाया करते थे। अतः यदि आप पढ़े-लिखे हैं तो ठीक है अन्यथा कोई क्षति भी नहीं है। क्योंकि इष्ट से समत्व दिलानेवाली क्रिया जिसका नाम कर्म अथवा आराधना है, विरह-वैराग्य से सीखने में आती है। लौकिक शिक्षा बुद्धि का प्रसार करती है, जबकि इष्ट-संबंधी कर्म के लिए बुद्धि और मन का निरोध होना आवश्यक है। अतः किसी अनुभवी पुरुष की शरण में रहकर साधना करनी चाहिए। कहने में कुछ और आता है, लिखने में कुछ और आता है; किन्तु क्रियात्मक आचरण से उन महापुरुषों द्वारा आत्मा की अन्तस्प्रेरणा से साधन-क्रम जागृत हो जाता है, वह और विलक्षण है। आरम्भ हो जाने के पश्चात् फिर वह कभी भी पिण्ड नहीं छोड़ता, कभी नष्ट नहीं होता, ध्रुव- कल्याण करता है। योग में आरम्भ का भी नाश नहीं है। थोड़ी भी साधना करें, आरम्भ तो करें।

।। ॐ ।।

५. गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था

महाभारत का सुप्रसिद्ध आख्यान है कि पत्नी एवं भाइयों सहित महाराज युधिष्ठिर वनवास कर रहे थे। भीम को शिकार का विशेष शौक था। एक दिन भीम शिकार से नहीं लौटे। धर्मराज युधिष्ठिर को भयंकर अपशकुन होने लगे। वामांग फड़कने लगा। उन नरेश ने महर्षि धौम्य से कहा- ''ऋषि प्रवर! लगता है कि भीम किसी भारी संकट में पड़ गया है। मुझे अपशकुन हो रहा है। चलें, उसका पता लगायें।'' महर्षि को साथ लेकर महाराज युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पड़े। भीम द्वारा मारे गये सैकड़ों शेर, हाथी, जंगली भैंसे पड़े थे; पेड़ उखड़े मिल रहे थे। इन्हीं चिन्हों का अनुसरण करते हुए युधिष्ठिर आगे बढ़े और वहाँ पहुँच गये जहाँ भीम अजगर से लिपटा हुआ निश्चेष्ट पड़ा था। युधिष्ठिर ने कहा, ''भीम! तुम महान् बलवान हो। सृष्टि में जन्म लेनेवाला कोई भी जीवधारी ऐसा नहीं है जो तुम्हें नियंत्रित कर सके; फिर तुम एक अजगर की लपेट में कैसे आ गये? यह महाभाग अजगर कौन हैं?

भीम ने कहा, ''यह हमारे पूर्वज, महान् धर्मात्मा महाराज नहुष हैं। ब्राह्मणों के शाप से यहाँ पड़े हैं। दिन के तीसरे प्रहर में जो भी इनकी अधिकृत भूमि में आ जाता है, वह कितना शक्तिशाली क्यों न हो, सहज ही इनके वश में हो जाता है। इनकी खुराक बन जाता है। यह भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद का बल है।'' तब तो युधिष्ठिर ने नहुष से कहा, ''राजन्! आप तो महान् धर्मज्ञ थे। आपने बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञ किये, जिसके प्रभाव से इन्द्र-पद पर अभिषिक्त हुए। फिर आपने ब्राह्मणों का अपमान किया। आप से ऐसी भूल कैसे हो गयी? क्या आप विप्रों का महत्त्व नहीं जानते थे?'' नहुष ने पूछ ही लिया कि आप ही बताइये कि विप्र का क्या महत्त्व होता है? तब धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा कि इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकान्त सेवन, निरन्तर चिन्तन, अनुभवी उपलब्धियाँ, आर्जव, क्षमा, तपस्या

इत्यादि लक्षण जिसमें स्वभाव से हों, वह विप्र है। तब अजगर वेषधारी नहुष बोले कि ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं? युधिष्ठिर ने कहा- तब वह शूद्र भी विप्र है। अजगर पुनः बोला, ''इन लक्षणों से हीन विप्र भी तो पाये जाते हैं।'' युधिष्ठिर ने निर्णय दिया कि, ''यदि कोई इन लक्षणों से हीन है तो वह स्वभावतः शूद्र है, विप्र नहीं।'' इतना सुनते ही महाराज नहुष तत्क्षण अपने स्वरूप में आ गये, भीम सहज ही मुक्त हो गये और वे महाराज नहुष युधिष्ठिर को दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हुए, उनके कल्याण की कामना करते हुए पुनः स्वर्ग चले गये।

इन्द्र का पद और विलासिता की सामग्री पाकर नहुष ने मदान्ध होकर अत्रि, अगस्त्य, पुलह, वशिष्ठ इत्यादि विप्रों से पालकी ढुलवायी, शीघ्र चलने के लिये उसने महर्षियों को 'सर्प-सर्प' कहकर प्रेरित किया। दयालु विप्र पहले तो सहते गये किन्तु नहुष ने अगस्त्य को लात मारी, उसी का दुष्परिणाम था कि महर्षि ने कहा कि- ''जा, सर्प हो जा।''

नहुष ने जब अपने को पालकी से पतित होकर अधम योनि के लिये पृथ्वी पर आते देखा तो गिड़गिड़ाये। बोले, ''हमारा उद्धार कैसे होगा?'' महर्षियों ने आशीर्वाद देते हुए कहा, ''भविष्य में परम धर्मज्ञ महाराज युधि ाष्ठिर तुम्हारे कुल में होंगे, जिनसे विप्र की यथार्थ महिमा सुनने पर तुम्हें इस अधोगति से छुटकारा मिलेगा।'' महिमा सुनते ही नहुष पुनः इन्द्रपद को प्राप्त हो गये। अतः विप्र के स्वरूप के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का यह निर्णय निर्विवाद है, जिसके यथार्थता के प्रत्यक्ष प्रभाव से नहुष की सद्गति तत्क्षण हो गई। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में इससे सच्ची आख्या क्या होगी, जिसके प्रभाव से नहुष को अधोगति से छुटकारा मिल गया।

इस आख्यान से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ प्रत्येक युग में थीं। सतयुग में उत्पन्न नहुष की भ्रान्ति का निराकरण कहीं जाकर द्वापर में हो सका। बीच में धर्म का तत्त्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं जो

नहुष की भ्रान्ति का निराकरण करता और वह भी विप्रों के आशीर्वाद का फल था। नहीं तो युधिष्ठिर को वह बुद्धि कहाँ से आती?

वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व अध्यात्म में ही है। आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा! उसे प्राप्त करने के चार सोपान– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। इसी का निर्णय गीता के आलोक में देखें जो परम कल्याण का पथ प्रशस्त करता है–

प्रश्न– महाराजजी! गीता में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप क्या है?

उत्तर– गीता में जैसी वर्ण-व्यवस्था पायी गयी है उसे समझने के लिए पहले गीतोक्त कर्म को समझ लेना आवश्यक है। गीता के अनुसार आराधना ही कर्म है। यज्ञ और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। आराध्य को प्राप्त करा देनेवाला रास्ता ही यज्ञ है, जिसमें चिद्विलास जगत् ही हवन-सामग्री है। इस यज्ञ की अन्तिम आहुति में संचित और प्रारब्ध को, वृत्तियों सहित चित्त के अस्तित्व को, प्रकृति के प्रवाहरूप तीनों गुणों को समाहित कर बुद्धि भी यज्ञरूप हो जाती है। तत्क्षण यज्ञ के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाला परमात्मा असम्भव से सम्भव हो जाता है।

यज्ञ को क्रियारूप में लाना कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ के आचरण को कर्म कहते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। *(गीता, ३/९)*

वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, जिसमें सारा संसार मरता, जीता और मोहित रहता है, वह कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का बन्धन है, जीवों के बन्धन का कारण है। गीता जिसे कर्म कहती है वह तो अमरत्व की उपलब्धि करानेवाला है। गीता में यत्र-तत्र-सर्वत्र कर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है; क्योंकि यही कर्म पूर्ण

कल्याण करनेवाला है। परमपद और परमधाम इसी कर्म की पूर्ति में है। गीतोक्त कर्म आराधना अथवा चिन्तन की पद्धति मात्र है। सुगमता की दृष्टि से इसी कर्म को चार क्रमिक सोपानों में विभाजित किया गया, जिसे श्रीकृष्ण ने वर्ण के नाम से पुकारा। 'वर्ण' नामकरण में बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रूप, रंग अथवा आकृति होता है। अध्ययनकर्ता जिस श्रेणी का होता है उसका हाव-भाव, उसकी आकृति उसी स्तर के अनुरूप होती है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक कक्षा का छात्र सैकड़ों उलझनों की अनुभूति में डूबता-उतराता रहता है। यह मानसिक उथल-पुथल उसे एक प्रकार की आकृति प्रदान करती है। इसके विपरीत 'डाक्टरेट' इत्यादि उपाधियों से अलंकृत पारंगत विद्वान् अपने को पूर्ण अधिकार-क्षेत्र में देखेगा। उसके विचारों का वेग कुछ और ही होगा। अपने विषय पर उसका स्वामिभाव रहेगा। प्राथमिक छात्र की अपेक्षा उसकी उमंग कुछ और होगी, वर्ण या चेहरे की रंगत में आकाश-पाताल का अन्तर होगा। उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट योनियों की प्रगति भी मानसिक स्तर से निर्धारित होती है। मृत्यु के समय मन उच्च विचारों से ओतप्रोत रहने से उच्च योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार संकीर्ण विचारों से क्षुद्र योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः मनःस्थिति ही आकृति का निर्धारक है। और स्पष्ट कहा जाय तो मन की स्थिति ही आकृति है।

श्रीकृष्ण ने गुणों के भेद से कर्म को चार वर्णों में विभक्त किया। दैनिक जीवन में देखा जाता है कि मनुष्य भजन करने बैठता है लेकिन उसका मन नहीं लगता। विचारों का ज्वार आ जाता है। जो बात याद नहीं थी भजन के ही समय याद आती है। भजन में बाधक कौन बनता है? इसमें मौलिक अवरोध कहाँ से है? चिन्तन से ज्ञात होता है कि तीनों गुण ही इस कर्म (भजन) में रुकावट हैं। इन तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान और पतन होता है। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है।

गुण ही वर्ण-परिवर्तन की जाँच का पैमाना है। मन की केन्द्रित अथवा विच्छिन्न अवस्था गुणों के कारण ही होती है। परन्तु कर्म (भजन) एक ऐसा यंत्र है जो गुणों के सम्पूर्ण कार्य को उठाता-गिराता है और गुणों को जड़ से उखाड़ भी देता है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते हैं।

श्रीकृष्ण का कथन है- **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चार वर्णों की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं बल्कि कर्म को चार भागों मे बाँटा। किस आधार पर? श्रीकृष्ण कहते हैं- **'गुणकर्म विभागशः।'** *(गीता, ४/१३)*-गुणों के उतार-चढ़ाव से कर्म को वर्णों (श्रेणियों) में बाँटा गया है। अतः मनुष्य ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय नहीं है बल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय है, भजन ही वैश्य और शूद्र भी है। यह विभाजन गुणों पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाववाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं; क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतनी ही मात्रा में उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनों गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव है कि बढ़ने पर वह शेष दो गुणों को दबा देता है। अतः समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण हैं उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुणवाले को क्षत्रिय, आधा राजसी और आधा तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुणवाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावतः शान्त होगा। अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाह्यान्तर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्तःकरण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिसमें राजसी एवं तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्यरूप ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक रहेंगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय– जिसके अन्तःकरण में तामसी गुण का पूर्णतः अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला, ऐसा अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता, आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमें ईश्वर-भाव अर्थात् स्वामिभाव बना रहता है; क्योंकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ़ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रीयत्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वतः बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के बिना बलात् कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता; क्योंकि इन लक्षणों की जड़ तो स्वभाव है, जो गुणों से निर्धारित होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण **'क्षात्रकर्म स्वभावजम्'** *(गीता, १८/४३)* कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अंग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य– जिसके अन्तःकरण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है। ऐसे साधक के भजन-पथ से आधा तमस् हट चुका है, अर्धरजस् से पथ आलोकित है। अतः कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ऐसे साधक के लिए स्वाभाविक कर्म हैं। **'राम नाम धन खेती'**– आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसी का उपार्जन करना ही खेती है। 'गो' इन्द्रियों को कहते हैं अतः गो-रक्षा का तात्पर्य इन्द्रियों की रक्षा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषयों में इन्द्रियों का विचरना ही उनका नष्ट होना है। ज्ञान-विज्ञान, विवेक-वैराग्य से उनकी रक्षा होती है। आत्मिक सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। आत्मिक सम्पत्ति को विषयों में न खोकर उनका संग्रह करना ही धन कमाना है। माया इस संग्रह में बाधक है। वह इस आत्मिक सम्पत्ति को क्षीण करती रहती है। घाटा दिलाती रहती है। इसलिये भजन भी एक प्रकार का व्यवसाय है, जिससे आत्मिक सम्पत्ति का संवर्द्धन

करना वैश्य का स्वभाव माना गया है। आत्मिक सम्पत्ति को अपने में ढालना ही पूँजी का संग्रह है। यही सत्य व्यापार है जो निज धन की प्राप्ति करानेवाला है। ऐसे पुरुष का मन साधना में लगने लगता है।

शूद्र– भजन का सबसे क्षुद्र सोपान शूद्र है। जो उन व्यक्तियों में पाया जाता है जिनके अन्तःकरण में तामसी गुण कार्यरत रहते हैं, राजसी गुण की क्षीण रेखा ही रहती है। ऐसे व्यक्ति के मन में प्रमाद और आलस्य विशेष होगा। प्रयत्न करने पर भी उसका मन स्थिर नहीं रह सकेगा। सत्य वस्तु को समझने की क्षमता भी उसमें नहीं होगी। उसका मन तमस् से पूर्णतः आच्छादित होने के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देख पाता। आराधना में मन लगता ही नहीं। कर्म के क्षेत्र में उसका स्थान तुच्छ होता है। अतः शूद्र स्वभाववाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने उत्थान के लिए महापुरुषों की सेवा करे– **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'** ***(गीता, १८/४४)***– जो महापुरुष अपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं, उनसे समझें। उनकी शरण होकर तन, मन, वचन से सेवा करने का विधान है। सेवा-धर्म परम गहन है। सेवक किसी भी सेवा को तुच्छ नहीं समझता। वह कभी यह तर्क नहीं करता कि बिस्तर-झाड़ू क्यों लगाऊँ या सफाई क्यों करूँ? वस्तुतः जो महापुरुष पवित्र हो चुके हैं, उनके सान्निध्य से ही शूद्र स्तर के साधक का मल दूर हो सकेगा। इसी सेवा से ही उसे आगेवाली श्रेणी प्राप्त हो सकेगी, वह वैश्य-गुणधर्म को पकड़ सकेगा। उसमें जो योग्यता नहीं थी, वह भी आ जायेगी।

इस प्रकार गुणों के उतार-चढाव से कर्म के चार विभाजन किये गये। जिसे ब्रह्म का निकटवर्ती अनुभव है, प्रवेश करना ही शेष है, जिसके पश्चात् कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती, ऐसे सत्त्वगुण से संचालित ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि की अवस्था जिसमें स्वभाव से है वह ब्राह्मण है। 'क्ष' काटने को तथा 'त्री' तीन को कहते हैं। तीनों गुणों को काटने की जिसमें

क्षमता है वह क्षत्रिय है। भजन के विघ्नों का सामना करने में शूरवीरता, आत्मतेज, स्वामिभाव इत्यादि कर्म उसमें स्वभाव से ही होते हैं, जो ब्राह्मणत्व प्राप्ति के कारण हैं। भजन में मन का कुछ-कुछ लगना, सद्गुणों को एक-एक करके हृदय में लाना, इन्द्रियों के विषयोन्मुखी प्रवाह को रोकना वैश्य का सहज कर्म है जो क्षत्रियत्व की ओर ले जानेवाला है। इस प्रकार जिस साधक से कुछ भी पार न लगता हो, निद्रा-प्रमाद और आलस्य की अधिकता से भजन न बन पड़ता हो, ऐसे शूद्र स्थिति वाले के लिए कर्म (भजन) का प्रथम चरण सेवा है। उस सेवा के प्रभाव से वह वैश्यत्व की ओर अग्रसर हो सकेगा।

चराचर जगत् ही तीनों गुणों का विकार है। देवता, मनुष्य, राक्षस सभी इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही आते हैं (गीता, १८/४०)। इससे सिद्ध है कि देश-विदेश के सभी लोग भजन में प्रवेश के साथ इन वर्णों के अन्तर्गत हैं। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि वर्ण केवल हिन्दुस्तान में है। वस्तुतः हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी अथवा विश्व का कोई भी प्राणी जब परमात्म-स्वरूप की ओर बढ़ेगा, तब गीता के अनुसार चार वर्णों में से उसे गुणों के अनुरूप किसी-न-किसी वर्ण में आना ही पड़ेगा। चाहे आप हिन्दू ही क्यों न हों, भजन में प्रवेश शूद्र-स्तर से ही होगा।

भगवत्-पथ (कर्म) में वेषधारी ठग बहुत से हैं। योग्यता में तो वे शूद्र हैं, तमोगुण के बाहुल्य से उनका मन तो हवा से बातें करता है; किन्तु स्वांग ऐसा भरते हैं जैसे तपोधन हों। ऐसे वंचक कर्म के क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्वभाव से प्राप्त स्थिति को छोड़कर जो ऊँची श्रेणी की नकल करता है वह वस्तुतः अपनी हानि ही करता है- **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'** ***(गीता, ३/३५)***

क्रमशः चलकर तो बड़ी से बड़ी योग्यता प्राप्त की जा सकती है किन्तु प्राथमिक कक्षा का छात्र यदि उच्चकक्षा में बैठ जाय तो उच्चकक्षा का ज्ञान

तो दूर रहा, प्राथमिक कक्षा की योग्यता से भी वह वंचित रह जाता है। लौकिक दृष्टान्त को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। शूद्र, जिसे अभी 'प्राइमरी' में भी पढ़ना शेष है, यदि मैट्रिक या इण्टर की कक्षाओं में बैठने लगे तो उसे प्राइमरी का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार वैश्य, जिसे मिडिल या मैट्रिक तक पढ़ने का अधिकार है, बी.ए. की कक्षाओं में बैठे तो उसे मैट्रिक की योग्यता भी नहीं मिलती। इसी प्रकार बी.ए. की कक्षाओं में पढ़ने का अधिकारी क्षत्रिय, एम.ए. अथवा शोध की कक्षाओं में बैठे तो वह बी.ए. की भी योग्यता से शून्य हो जायेगा। यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। वस्तुतः एक के पश्चात् एक कक्षा को पार करने पर ही जिस प्रकार पारंगत विद्वान् बना जाता है उसी प्रकार एक के पश्चात् दूसरे वर्ण को पार करने पर ही निज लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

गीता का अकाट्य निर्णय है कि स्वभाव से प्राप्त अपने कर्म (भजन) द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने धर्म का आचरण करते हुए अर्थात् गुण के अनुरूप कर्म करते हुए मरना भी कल्याणकर है जबकि दूसरों का धर्म भयावह है। दूसरों की नकल करनेवाला समूल विनष्ट हो जाता है। नकल करने के प्रयास में उसकी अर्जित क्षमता भी समाप्त हो जाती है। अतः गीता के अनुसार, **'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।'** *(गीता, १८/४१)*– स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार कर्म को विभक्त किया गया है। स्पष्ट है कि विभाजन कर्म का हुआ है, मनुष्यों का नहीं। अतः जिन लोगों का विचार है कि मनुष्यों का वर्ण जन्म से निर्धारित हो जाता है अथवा जिस वर्ण का बनना था बन गये, अब तो जीवन भर उसी वर्ण में रहकर भगवान की वाणी का पालन करना है, ऐसा सोचनेवाले भ्रान्ति में हैं। श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**– कर्म को बाँटा गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने तो कृपा करके आराधना-पथ को चार सोपानों में विभक्त किया, जिससे कमजोर से कमजोर

मनवाला मानव भी क्रमशः चलकर भगवान तक पहुँच सकता है। वहाँ तक पहुँचानेवाली क्रिया के विभिन्न सोपानों को पार करके राक्षस से देवता और देवता से भी आगे प्रभु से मिलकर स्वयं प्रभुस्वरूप में स्थित हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनेक जन्मों से चलकर साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह कर्म (आराधना) उच्च से उच्च सोपानों पर आपको पहुँचा देता है, आपका स्वरूप बनाता है। इसलिए इसका 'वर्ण' नामकरण यथार्थ एवं सार्थक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने अतिशय प्रिय भक्त अर्जुन को आराधना-पथ के विभिन्न वर्णों को पार करने का परम गुह्यतम किन्तु सबसे सुगम उपाय गीता के उपसंहार के समय बताया है। उन्होंने कहा कि कर्म करनेवाला स्वयं इस चक्कर में न पड़े कि मैं किस वर्ण का हूँ। वह अपने परीक्षण में समय को व्यर्थ न गँवाये। इसीलिए अर्जुन! तू किसी वर्ण-धर्म का विचार न करके मेरी शरण हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर, परमात्मा, परमतत्त्व, परमपुरुष, सद्गुरु साधान- काल में एक दूसरे के पर्याय के रूप में कार्य करते हैं। साधक को अपने वर्ण की चिन्ता छोड़कर उनकी शरण में हो जाना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं, **'चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।'** *(गीता, १८/५७)*- चित्त से सभी कर्मों को मुझपर छोड़कर मेरे परायण हो जा। ऐसा करने से वर्ण मिटेंगे नहीं बल्कि शरण में होने पर वर्णों से पार करने की जिम्मेदारी भगवान पर हो जाती है। वर्णों को तो पार करना ही होगा किन्तु स्वामी पर जिम्मेदारी सौंपकर सेवक निश्चिन्त हो जाता है। जब वर्ण भगवान द्वारा सृजित हैं तो उनके अनुरूप साधक में गुणों का समावेश कराना भगवान या सद्गुरु के लिए नितान्त सरल है। इसीलिए श्रीकृष्ण स्पष्ट कह देते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। *(गीता, १८/६२)*

अर्जुन! तू सब प्रकार से उन्हीं परमेश्वर की शरण में जा। उन्हीं की कृपा से ही तू परमशान्ति एवं शाश्वत स्थान को प्राप्त कर सकेगा। अतः किसी महापुरुष की शरण में रहकर वर्णों को पार करना सुगम है।

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था के इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं-

१- भगवत्प्राप्ति के उपायों का नाम यज्ञ है और उस यज्ञार्थ क्रिया का नाम कर्म है। यज्ञ जिस प्रकार किया जाता है वह कर्म है।

'कर्माणि प्रविभक्तानि'- कर्म को चार वर्णों में बाँटा गया है, न कि मनुष्यों को। गीतोक्त कर्म का अर्थ आराधना है। वर्ण इसी आराधना के चार सोपान हैं। एक बार जागृत हो जाने पर यह कर्म तभी पीछा छोड़ता है जब इन चारों वर्णों से गुजर जाय।

२- जो भगवत्पथ पर नहीं चलता, वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वह न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न तो वैश्य है न शूद्र। वर्ण उसके लिए है जो कर्म करता है, आराधना करता है। परमात्मा की प्राप्ति के अतिरिक्त सांसारिक कार्यों में संलग्न लोग न तो किसी वर्ण की क्रिया करते हैं और न तो गीतोक्त किसी वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। यदि आस्तिक हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं क्योंकि जो मानता है कि ईश्वर है वही उसे पाने की इच्छा करता है, वही तो पाता है; जो नहीं करता वह कभी नहीं पाता, मात्र हताशा हाथ लगती है।

३- गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है, जबकि हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था भौतिक शरीर का सामाजिक विभाजन मात्र है। समाज में प्रचलित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण शरीर के हैं। इनकी उतनी ही सीमा है। इन वर्णों से शरीर का निर्वाह होता है और जीवनयापन की दृष्टि से यह विभाजन है किन्तु इसे धर्म से जोड़ना उचित नहीं है, यह धर्म नहीं है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों में परिवर्तन होने से वर्ण-व्यवस्था में उलट-फेर होता रहा। प्रारम्भ में जातियों

एवं वर्ण के श्रेणियों की कोई रूपरेखा नहीं थी। कालान्तर में समाज सुर और असुर इन दो वर्णों में बँट गया। फिर तो गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, वानर इत्यादि वर्ग बने और मिटे। जीविका के साधनों की उत्कृष्टता अथवा निष्कृटता के आधार पर समाज अनन्त चक्रों में विभाजित होता गया और भविष्य में भी होता रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा जो भी नाम दिया जाय, उदर-पोषण को लेकर समाज में वर्ग बनते ही रहेंगे; किन्तु वास्तविक कल्याण के लिए गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था ही यथार्थ है। मोह से पराधीन होकर मनुष्य स्वयं अपने को नष्ट करता है। कर्म ही व्यक्ति का उन्नायक है और उससे रहित होकर मनुष्य स्वयं ही अपने को नष्ट करता है, गीता का यह दृढ़ निश्चय है।

४- तीनों गुणों के द्वारा कर्म (भजन) को चार वर्णों में बाँटा गया और इन तीनों गुणों के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण संसार है। इससे भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि सारा संसार चार वर्णों के अन्तर्गत है। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय में वर्ण विभाग का वर्णन यहीं से प्रारम्भ किया कि देवलोक, मृत्युलोक यावन्मात्र सर्वजगत् तीनों गुणों से उत्पन्न होकर उन्हीं से कार्य करते हैं। गुण ही ऊँचे-नीचे स्वभाव का कारण है और उसी स्वभाव से वर्ण बनते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार वर्णधर्म से बाहर नहीं है। इस बात पर पुनः बल देना समीचीन होगा कि संसार का अर्थ केवल भारत ही नहीं होता।

५- तीनों गुणों से स्वभाव बनता है, स्वभाव से ही वर्ण की योग्यता निर्धारित होती है। छोटे गुण से क्षुद्र स्वभाव बनता है जबकि बड़े गुण से ब्राह्मणत्व जैसा बड़ा स्वभाव बन जाता है। गीता के ही अनुसार किसी भी गुण को बढ़ाया जा सकता है। अध्याय चौदह के दसवें श्लोक के अनुसार कोई भी गुण शेष दो गुणों को दबाकर बढ़ाया जा सकता है, बढ़ता-घटता है। इस प्रकार यदि गुणों में परिवर्तन सम्भव है तो शूद्र से वैश्य, वैश्य से

क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण होना नितान्त सम्भव है। इसी का अनुसरण करके आज भी आप जगद्गुरु हैं क्योंकि इसमें सबका स्थान है।

६- अत्यन्त चंचल मनवाले व्यक्ति भी साधना के सही दौर में पड़ने पर संकल्परहित समाधि की क्षमतावाले देखे गये। वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि महापुरुषों के प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उद्भासित होता है कि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव है। उनके जीवन के पूवार्ध और उत्तरार्ध के स्वभाव में पूरब और पश्चिम का अन्तर पाया जाता है। काम-क्रोध, लोभ से चंचल उनका मन समाधि की क्षमतावाला तथा सरलता से युक्त पाया गया, जो ब्राह्मण के लक्षण हैं। इस प्रकार यदि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव है तो वर्णों के परिवर्तन में भी संदेह नहीं है।

७- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वर्ण-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा- अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं अथवा तीनों गुणों तक ही सीमित हैं, इसलिए तू वेदों के बन्धन से ऊपर उठ। साथ ही श्रीकृष्ण ने ऊपर उठने का तरीका भी बताया कि निर्द्वन्द्व, एकरस, सत्त्व में स्थित हो और योगक्षेम की चिन्ता न कर आत्मपरायण बन! श्रीकृष्ण के शब्दों में-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(गीता, २/४५)*

यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कोई वेदों से ऊपर उठा? (वेदों से, गुणों से ऊपर उठना एक ही वस्तु है) और यदि कोई कभी उठा तो उसकी क्या गति हुई? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रह जाता है, ठीक उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रहता है। सारांशतः वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं, इसलिये वेदों से ऊपर उठ। ऊपर उठने पर जो स्थिति आती है उसका

नाम ब्राह्मण है। यहाँ ब्रह्म प्रत्यक्ष है। अर्थात् तू ऊपर उठ, ब्रह्म को जान और ब्राह्मण बन।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता, २/४६)*

कर्म की गति वस्तुतः गूढ़ है। कर्म क्या है? अकर्म क्या है?-बड़े-बड़े विद्वान् भी इसी स्थल पर संशययुक्त हैं। वस्तुतः कर्म का तात्पर्य आराधना है और अकर्म का आशय मात्र इतनी मान्यता है कि करानेवाला कोई और है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ- ऐसा समझकर कर्म में तल्लीन हो जाना ही मोक्षप्रद है। इसी का नाम निष्काम कर्म है। कर्म की अन्तिम स्थिति ब्राह्मण श्रेणी की कही जाती है।

८- कोई ब्राह्मण कब बनता है? इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

जब सम्पूर्णता से प्रारम्भ किया हुआ कर्म (जिसमें कहीं कमी न हो) क्रमशः उस श्रेणी पर पहुँच जाय जहाँ काम और संकल्प का सर्वथा अभाव है (सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन की संकल्पों से उपराम करता है), तहाँ ज्ञानाग्नि में कर्म जल जाते हैं और कर्म के जलते ही वह पुरुष महर्षियों द्वारा बोधस्वरूप ब्राह्मण कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई भी पुरुष ब्राह्मण अथवा पण्डित बन सकता है।

९- यथार्थ तो यह है कि ब्राह्मण बनना ही हमारा लक्ष्य नहीं है। यह वर्ण भी दोषों का घर है। अन्य वर्णों की अपेक्षा यह वर्ण सुलझा हुआ अवश्य है किन्तु सुलझे कर्म का कर्त्ता भी मुक्त नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ण प्राप्त कर लेने पर भी हार्दिक प्रसन्नता कैसे होगी जबकि संसार पीछे लगा है? जहाँ तक वर्ण और कर्म हैं, संसार का अस्तित्व भी साथ ही है।

इसलिए वर्णों से कोई आशा नहीं करनी चाहिए। वर्ण छोटा मिला हो अथवा बड़ा, वह हमारा लक्ष्य नहीं है। हाँ, लक्ष्य तक पहुँचने में वह सहयोग अवश्य देता है। उन्हें पार किये बिना लक्ष्य तक पहुँचा भी तो नहीं जा सकता। इसलिए इन वर्णधर्मों का पालन आवश्यक है। प्रत्येक वर्ण के निर्धारित लक्षणों को जो अपने में अच्छी तरह ढाल लेता है, वह आगे के वर्ण में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है। क्रमशः चौथे वर्ण के धर्म की जिस क्षण पूर्ति होती है उसी क्षण परमप्रभु अपने दीन सेवक को अपना बना लेते हैं और अपने में स्थिति प्रदान कर देते हैं।

१०- परमप्रभु परमात्मा में स्थिति प्राप्त करना ही जीव का चरमोत्कृष्ट लक्ष्य है। यह वह स्थल है जहाँ वर्ण नहीं रह जाता, कर्म नहीं रह जाता, धर्म-अधर्म कुछ भी तो नहीं शेष बचता। जीवात्मा एवं परमात्मा का द्वैत इसी बिन्दु पर सदा-सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। इसी अद्वैत स्थिति का संकेत गोस्वामीजी भी **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'** कहकर करते हैं। यही नानक का 'वाहे गुरु' और कबीर का 'प्रत्यक्ष स्वरूप' है, जिसके अखण्ड-अभेद स्वरूप में वर्णभेद का कोई स्थान नहीं है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। अनेक जन्मों के अन्त में पूर्णत्व पानेवाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, मुझमें और उस ज्ञानी में किंचित् अन्तर नहीं है। (गीता, ७/१९)। अब उस भजन का स्वरूप क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं- मेरे पास आओ अर्थात् किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करो। **'सद्गुरु मारे उलट निहारे, सोवत में उठ जागे।'**

प्रश्न- सरकार! वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा से तथा शूद्र पैर से पैदा हुए, जिससे लगता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती है?

उत्तर– देखिए, सबकुछ गीता में है क्योंकि गीता आदिशास्त्र है। उसी का विस्तार वेद हैं, वही विचार उपनिषदों में है। महाभारत में महर्षि व्यास का वचन है–

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

अतः गीता स्वयं में पूर्ण शास्त्र है। किन्तु आपने जब वेद की किंचित् चर्चा की है तो उस ओर से भी देख लेते हैं; वैसे वेद गीता से भिन्न नहीं है। गीता का ही विस्तार वेद हैं।

प्रश्न है कि ब्रह्म कब पैदा होता है? जब ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है तो उसके पाँव कहाँ होंगे और शीर्ष स्थान कहाँ जायेगा?

वस्तुतः गीता, वेद, उपनिषद् इत्यादि योगदर्शन हैं। यह परमतत्त्व परमात्मा में विलय करानेवाला दर्शन है। उस व्यापक चेतन का प्रकटीकरण समाज में विवाद का एक विषय है; किन्तु योगियों के बीच वही सर्वसम्मत तथ्य है। कठोपनिषद् का वचन है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्।। *(१/२/२२)*

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न विशिष्ट बुद्धि से प्राप्त होती है और न बहुत सुनने-सुनाने से प्राप्त होती है। बल्कि हजारों में से वह परमात्मा जिस किसी का चयन कर लेता है वही उसको पाता है। हजारों पथिकों में से जिसका वह वरण कर लेता है वही उस आत्मतत्त्व को पाता है। जिस साधक की मन-क्रम-वचन से की गयी सेवा-प्रार्थना को वह स्वीकार कर लेता है, उसके हृदय से वह परमात्मा रथी बनकर आरूढ़ हो जाता है और क्रमशः बुद्धिरूपी लगाम को पकड़कर सही मार्गदर्शन करते हुए उस परमतत्त्व परमात्मा पर्यन्त दूरी तय कराकर उसका दर्शन, स्पर्श एवं उसमें स्थिति दिलाता है, वही उसे जान पाता है।

हमें गुरु महाराज की शरण में आये लगभग एक महीना हो गया था। मन में गुरु महाराज के प्रति उथल-पुथल मची हुई थी। एक दिन अनुभव में आया कि हम केवल लंगोटी लगाये, चदरी लपेटे खड़े हैं, एक विद्वान पण्डित दिखाई पड़े। उनसे हमने पूछा, ''ये हमारे महाराज जी कैसे हैं?'' वे बोले- ''अनादिकाल से जैसे महापुरुष होते आये हैं, जैसा कि एक महापुरुष को होना चाहिए, आपके गुरु महाराज वैसे ही हैं और यही हैं। आपमें सब गुण विद्यमान हैं।'' उस दिन से विश्वास हो गया और अत्यधिक खुशी की वजह से हम भजन में बैठे ही रह गये। सूर्य कब निकल आया, हमें पता ही नहीं चला। जब उठकर धूनी पर प्रणाम करने के लिए झुके तो गुरु महाराज ने एक जलता हुआ लक्कड़ पीठ पर मारा। जब हम उठकर खड़े हुए तो धूनी से चिमटा खींचकर मारा। उसकी दोनों नोंकें सीने में आ लगीं। हमने पूछा- ''महाराज जी! कोई भूल हो गयी क्या?'' वे बोले- ''पीठ पर घाम लगा है, तब उठके आया है! इसी पराक्रम के माथे भजन करोगे? करे, महतारी का गर्भ छुड़ाने आया है?'' एक बार डाँट पड़ जाय तो पन्द्रह-बीस दिन की छुट्टी! फिर भूल चाहकर भी न हो।

हमारे गुरु महाराज ने साधना कि नाम ऐसे जपो, रूप ऐसे देखो, ब्रह्मविद्या ऐसी है, सब टाइम-टेबल ऐसे हैं - सब बता दिया लेकिन भजन जागृत नहीं था। अभ्यास करते-करते चार महीने बाद अनायास हृदय से (आत्मा से) आवाजें आने लगीं कि ऐसे चलो, ऐसे बैठो, अब उठो, बैठ जाओ, सोओ मत, अब खतरा है, अब ठीक है! पूरा दाहिना-बायाँ अंग फड़कने लगा, एक-दो इंच की दूरी पर, तड़-तड़-तड़..... जैसे अन्दर कोई प्रवेश कर गया हो! हमने सोचा कोई बीमारी हो गयी है, तुरन्त दौड़कर गुरु महाराज से बताया। महाराज जी ने कहा- ''बेटा, अब राम-रावण युद्ध शुरू हो गया। अब रावण मारा जाई, रामजी का राज्याभिषेक होई, तभी छुट्टी मिलेगी, बीच में कोई विराम नहीं है। अब भगवान तुमसे बातें करने लगे।

अब जब तक माया का समूल अन्त नहीं होगा, स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक रास्ते में कोई विराम नहीं है। भजन जागृति हो गया बेटा!''

अतः भजन एक जागृति है। इसी साधन-प्रणाली के अन्तर्गत भगवान के निर्देशन में साधक को चलना होता है और अन्त में उत्कर्ष होते-होते पहली सीढ़ी, दूसरी, तीसरी एवं चौथी पार किया तो दर्शन, स्पर्श और स्थिति है। भजन विधि तो पहले ही बता दिया था लेकिन कोई मतलब नहीं था। इस जागृति के पहले का भजन मानो गूँगा-बहरा था। जब तक भगवान हृदय से रथी न हो जायँ तब तक निवृत्ति दिलानेवाले भजन का आरम्भ ही नहीं है, क्योंकि **'मन बस होहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजे।'** यही वैदिक ऋषियों की अनुभूति थी, यही आज भी महापुरुषों की अन्तःप्रेरणा में, शिष्य-परम्परा में यथावत् जहाँ-तहाँ जागृत है।

साधक के हृदय में प्रसारण के साथ ही साधना के प्रथम चरण में वह परमात्मा साधक को शूद्र (अल्पज्ञ)-श्रेणी में प्रवृत्ति प्रदान करता है, उसका वैसा ही स्वभाव बनाता है। दूसरे सोपान में वह भरण-पोषण और आत्मतृप्ति वाली वस्तुओं का संग्रह कराता है। तीसरी अवस्था में वह विराट् प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता देता है। शीर्षस्थान अर्थात् चौथे स्थान पर वह अपनी ब्रह्ममयी आत्मा से आर्जव, मन का शमन, सरलता, धारावाही चिन्तन इत्यादि गुणों को प्रस्फुटित कर स्वयं रथी के रूप में आरूढ़ रहते हुए पूर्णत्व की दिशा में ब्राह्मण की श्रेणी से विभूषित कराता है और इस स्थिति से चलाता हुआ क्रमशः अपरिवर्तनशील स्थिति का बोध कराते हुए अपने में समाहित कर लेता है। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी जीव के परमकल्याण के सोपानों का निर्देशन मात्र है; न कि वहाँ कोई ऐसा पुरुष खड़ा है जिसका सिर आकाश में और पाँव रसातल तक चला गया हो। अतः यह क्रियात्मक पथ और उसकी जागृति आज भी पूर्णत्व से आप्लावित महापुरुषों से है और उन महापुरुषों में वह अनुभवगम्य है, जैसा कि विराट्

स्वरूपों का विस्तार पाया जाता है। अतः उनकी संगति करें और वे भी राम की कृपा से मिलते हैं- **'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।।'** ***(मानस, ७/६८/७)*** मानस का यही निर्णय है क्योंकि मानस भी तो 'नानापुराण निगमागम' का निचोड़ मात्र है।

अतः सज्जनो! विप्र को चाहिये कि वे अपने स्वरूप की रक्षा उक्त सद्गुणों के सृजन से करें। अन्य वर्णों, वर्गों, सम्प्रदायों के जो प्रत्याशी देर-सवेर इस अवस्था को पार करते हैं, महान् हैं। इस क्रिया, विधा की उपलब्धि का एक ही माध्यम चिरन्तन सत्य है और रहेगा कि अनुभवी विज्ञानी तत्त्वज्ञ महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करें। उन्हीं हरकतों से पेश आवें जिनसे वे प्रसन्न रहें, जिनकी कृपा से आप सत्य की प्राप्ति कर सकें। श्रीकृष्ण गीता में इंगित करते हैं-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। ***(गीता, ४/३४)***

''अर्जुन! तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जा। दण्ड-प्रणाम करके उनकी सेवा कर और निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जान।'' हृदय में ईश्वर की जागृति तथा अपने मन से बौद्धिक स्तर का कार्य करना दोनों में पूरब और पश्चिम का अन्तर है। बौद्धिक निर्णय नास्तिकता और पतन की ओर अग्रसर कर सकता है। अतः किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा अनिवार्य है। तत्त्वदर्शी महापुरुष ही माध्यम हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ।'- ऐसे महापुरुष भी पुण्य-पुरुषार्थ से ही मिलते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! महापुरुष की प्राप्ति कहीं तो आप कृपा की देन मानते हैं और कहीं पुरुषार्थ की देन मानते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- देखिये, साधक का भाव ही इधर से कृपा बनकर लौटता है। भाव ही पुण्य कराता है और **'भाववस्य भगवान'।, 'भावे विद्यते देवा।'**

।। ॐ ।।

६. वर्णसंकर

जैसा अभी आपने देखा, समाज में प्रचलित जातियाँ वर्ण हैं ही नहीं। वर्ण का महत्त्व अध्यात्म में ही है। आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा। दृढ़ता से अपने आत्म-पथ का परिपालन ही वर्ण की रक्षा है और परमात्म-पथ से च्युत हो जाना वर्णसंकर है। साधन-पथ से भटक जाना वर्णसंकर है– **'शृंगी की भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर बिदार। रमइया की दुलहिन लूटल बाजार।'** माया तलवार लेकर तो मारती नहीं, हँसा-खेलाकर प्राकृतिक आकर्षण उत्पन्न कर देती है–

माया हँसि के मारे नैन के बाणन में।

दृष्टि-निक्षेप मात्र से माया सबको साधन-पथ से विचलित कर देती है।

तुपक तीर तलवार न बाँधत, लाखन चोट हजारन में।

कहीं हजार आदमी बैठे हों तो उनमें एक लाख घाव कर देगी।

जोगी जपी तपी संन्यासी, भागि न बचे पहारन में।
माया नीर के तीर अगम हैं, लाखन बूड़े धारन में।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, तरि गये अधम सधारन में।

कबीर कहते हैं कि दीन-हीन बनकर रहनेवाला, साधारण जीवन बितानेवाला साधक सरलता से पार हो जाता है। जिसे अहंकार है कि मैं इस जाति का हूँ, उस कुल का हूँ, धार्मिक हूँ, गुणी हूँ, विरक्त हूँ, त्यागी हूँ – यह डींग हाँकना बन्द कर प्रभु के ऊपर निर्भर हो जायँ, उनके हाथ का यन्त्र बन जायँ, ऐसे भक्त के ऊपर आनेवाले माया का आघात भगवान स्वयं झेल लेते हैं। जो इन अहंकारों से बच जाता है, वह शुद्ध वर्ण में अपने स्वरूप की ओर अग्रसर हो जाता है, उत्तीर्ण हो जाता है।

अभिमन्यु अर्जुन का औरस पुत्र था। श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा से जायमान, सबका बहुत प्यारा! वह मर गया तो अर्जुन उसके वियोग में

प्रतिज्ञा कर बैठा, चिता पर चढ़ने लगा। वह तो भगवान ने जयद्रथ का वध करा किसी तरह उसके प्राण बचाये।

जब महाभारत युद्ध समाप्त हो गया, भगवान ने कहा– अर्जुन! मेरा एक भक्त है मोरध्वज, उसके यहाँ चला जाय। दोनों ने साधु वेश बनाया। भगवान ने एक सिंहशावक ले लिया। मोरध्वज ने इन संतों को प्रणाम किया और कहा– भगवन्! आदेश दें, मैं क्या सेवा करूँ? महात्मा ने कहा– राजन्! हमें केवल भिक्षा चाहिए। यह सिंह भी भोजन करेगा। राजा ने कहा– इसके लिए उपयुक्त भोजन वधशाला से अभी आ जायेगा। महात्मा ने कहा– वधशाला से नहीं, तुम अपनी कोई वस्तु दो। राजा ने कहा– मैं अपना शीश देने को तैयार हूँ। वे बोले– फिर हमलोगों का स्वागत सत्कार कौन करेगा? तुम ऐसा करो कि अपने इस बच्चे को दे दो। इसके दाहिने अंग का मांस मेरा शेर खा लेगा।

राजा ने कहा– यह आधा मेरा है, मैंने दिया। आधा आपको महारानी से माँगना पड़ेगा। महारानी ने कहा– मैंने भी दिया। लड़के से भी पूछ लेते हैं। लड़के ने कहा– हमें प्रसन्नता है कि माता-पिता ने मुझे दान में दे दिया। मैं प्रस्तुत हूँ। अब युवराज को काटे कौन? महात्माओं ने कहा– आप महाराजा-महारानी ही आरे से बच्चे के दो हिस्से कर दें। आरा आ गया। एक ओर महारानी तो दूसरी ओर से राजा ने आरे को पकड़ लिया। भगवान भी जब परीक्षा लेते हैं तो अन्तिम सीमा तक परीक्षण करते हैं। माँ के हृदय में सन्तान को छोड़कर और कुछ तो होता नहीं। जहाँ खून देखा तो माँ की आँखों में आँसू भर आये। महात्मा बने श्रीकृष्ण ने कहा– रो-धोकर दी हुई भिक्षा हमारा शेर नहीं खाता। महारानी ने कहा– महात्मन्! कृपा करें, हमारे आँसू जमीन पर न टपकने पायें। आँसू नेत्र-कोरकों में ही जम गये। महाराजा ने बालक का दाहिना अंग शेर के समक्ष रख दिया। महात्मा ने कहा– शेष आधा अंग पलंग पर लिटा दें। ऐसा ही किया गया। भोजन

परसा गया तो महात्मा बोले– युवराज की थाली भी लगा ली जाय। राजा ने कोई आनाकानी नहीं की। थाली लग गयी। महात्मा ने कहा– अपने पुत्र को बुलाओ। उसे आवाज दो। उन्होंने पुकारा तो भीतर से वही पुत्र दौड़ता हुआ आया और बैठकर सबके साथ लगा खाने।

अर्जुन तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। ग्रास मुँह में पड़ा ही रह गया। उसने कहा– प्रभो! आपमें इतनी शक्ति है? जिसके शरीर का अर्द्धभाग हमारी आँखों के सामने शेर खा गया, उसे पूरा-का-पूरा जीवित देख रहा हूँ; तब मेरे अभिमन्यु को आपने क्यों नहीं जिलाया? भगवान बोले– अर्जुन! वही तो मैं करने जा रहा था, तुमने हमारी बात सुनी ही नहीं। मैंने तुम्हे समझाया भी था कि हमारी एक बात तो सुन लो लेकिन तुमने कहा था– 'नहीं गोविन्द! प्रण पूरा होना चाहिए।' हमने कहा था कि इससे भी अच्छा परिणाम निकल सकता है, किन्तु तुमने कहा– 'कुछ नहीं गोविन्द! प्रण पूरा होना चाहिए।' मैंने तुम्हें समझाने का प्रयास किया कि जयद्रथ यहाँ से बहुत दूर है, व्यूहबद्ध सेना मार्ग रोककर खड़ी है, तुम्हीं ने कहा था कि 'भगवन् ! चाहे वह समुद्र के किनारे हो, आप रथ ले चलिए।' तुमने मेरी बात मानी ही कब थी अर्जुन! अर्जुन ने कहा– भगवन्! मुझसे महान भूल हुई। क्या अब कोई उपाय नहीं है? भगवान ने कहा– अर्जुन! वह जीवित तो नहीं हो सकता, समय बहुत बीत गया है; हाँ, तुम उसे अब भी देख सकते हो। अर्जुन ने प्रार्थना की कि उसे दिखा ही दीजिए।

भगवान ने रथ को एक ओर घुमा दिया। रथ दिव्य वायुमण्डल को चीरते हुए आगे बढ़ा। एक दिव्य सिंहासन पर अभिमन्यु दिखाई पड़ गया। अर्जुन पुन: भूल कर बैठा और 'बेटा अभिमन्यु, बेटा अभिमन्यु' कहता हुआ रथ से कूद पड़ा। भगवान मुस्कुराने लगे। अर्जुन का प्रेम भगवान में नि:सन्देह था, किन्तु उससे कहीं अधिक पुत्र-मोह गहराई में छिपा हुआ था। अभिमन्यु ने अर्जुन को डाँटा– कौन हो तुम? अर्जुन ने सोचा– अरे! अपने

पिता को ही नहीं पहचान पा रहा है! लगता है सात-सात महारथियों ने इतना अधिक मार दिया है कि स्मृति धूमिल पड़ गयी है। अच्छा, इसके माताजी का नाम लूँ, कदाचित् इसे याद आ जाय। उसने कहा– सुभद्रापुत्र अभिमन्यु! अभिमन्यु ने कहा– देख, न तो मैं सुभद्रापुत्र हूँ, न तेरा पुत्र हूँ। सात बार मैं पिता और तुम मेरे पुत्र थे, केवल एक बार तुम पिता हुए और मैं पुत्र हुआ। आठ जन्मों से ये बदले चले आ रहे हैं। यह क्रम न जाने कब तक चलता। इन भगवान श्रीकृष्ण की कृपा है कि मैं अपना स्वरूप पा गया। इनके चरण पकड़, नहीं तो हजार जन्मों तक 'हाय बेटा, हाय बेटा' कहकर गुजारते रहोगे। भागो यहाँ से। तब अर्जुन ने सोचा– जिसके पीछे मैंने सारी सम्पत्ति उड़ेल दी, गोपनीय विद्या चक्रव्यूह-भेदन तक सिखा दिया, जिसके लिए मैं चिता पर चढ़ गया वह भी बदला लेनेवाला आठ जन्मों का दुश्मन निकला! उस दिन से उसका मोह भंग हो गया। भगवान के चिन्तन में इतना मन लगने लगा कि निद्रा में भी उसके रोम-रोम से ओम् की ध्वनि प्रसारित होती थी। यह गुण हनुमानजी में था, या फिर युगों के बाद अर्जुन में यह गुण आया। जब तक मोह का छोटा-सा भी अंकुर शेष है, आदमी वर्णसंकर है।

सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार। (मानस, १/६)

वे संत हंस होते हैं, जो ईश्वरीय गुणों को ग्रहण कर लेते हैं, प्रकृतिरूपी वारि का त्याग कर देते हैं। जो ईश्वरीय गुण ग्रहण करते हुए चलते हैं, वे 'सु बरन'वाले होते हैं। जो शाश्वत है, सत्य है, परम तत्त्व है, वह है परमात्मा। वही इस आत्मा का शुद्ध वर्ण है। इसमें प्रकृति का मिश्रण हो जाना वर्णसंकर है। जब तक अभिमन्यु का मोह था, अर्जुन भी वर्णसंकर था। जब मोह का क्रम टूटा तो लौ लग गयी, वर्णसंकरता दूर हो गयी। अर्जुन और अभिमन्यु की तरह सबको थोड़ा बहुत वर्णसंकरता पीछा करती ही रहती है। आइये देखें, गीता के आलोक में वर्णसंकर का स्वरूप–

प्रश्न- महाराजजी! अर्जुन को शंका थी कि युद्ध करेंगे तो इतने लोग मरेंगे कि स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, लोग वर्णसंकर हो जायेंगे जिससे सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में कहीं भी इस शंका का समाधान नहीं किया कि वर्णसंकर क्या है? कैसे होता है?

उत्तर- श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रत्येक शंका का समाधान कर दिया था। शस्त्र-संचालन की तैयारी के समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा- अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए, जिससे मैं इन युद्ध की इच्छावालों को भली प्रकार देख लूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना उचित है। श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा किया, तो अर्जुन ने उस अठारह अक्षौहिणी जनसमुदाय में अपने ही परिवार को खड़ा पाया। वहाँ अर्जुन ने अपने पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुर तथा सुहृदों को देखा। इस गणना में कुल दस शब्द आये हैं जिसमें अपना परिवार, ननिहाल का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद् और गुरुजन ही थे। अठारह अक्षौहिणी लगभग साढ़े छः अरब के करीब होता है। (एक गणना के अनुसार चालीस लाख के समकक्ष होता है।) इतने जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना सुहृद्, सम्बन्धी रिश्तेदार और परिवार दिखाई पड़ा; अन्य कोई नहीं? कहीं इतने रिश्तेदार भी होते हैं? नहीं होते! वस्तुतः महाभारत अन्तःकरण की लड़ाई है।

अर्जुन ने सुहृदों को देखा। देखते ही काँपने लगा, रोमांच हो आया। बोला- भगवन्! मैं अपने ही परिवार को मारकर क्या सुखी होऊँगा? कुल-धर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म लुप्त हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है, युद्ध करने से शाश्वत-धर्म नष्ट हो जायेगा। पुरुषों के संहार से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, पिण्ड-परम्परा समाप्त हो जायेगी। कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होगा और वह वर्णसंकर कुल और

कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। हम लोग समझदार होकर महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। अर्जुन ने यह नहीं कहा कि मैं भूल कर रहा हैं, बल्कि उसने कहा कि 'हम' अर्थात् श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाया कि आप भी भूल करते हैं। अर्जुन ने कहा कि जिनके लिए हमें भोग इच्छित हैं, वे सभी तो जीवन की आशा त्यागकर मौत के मुहाने पर खड़े हैं, फिर मैं अकेला यह साम्राज्य लेकर क्या करूँगा? अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा।

यहाँ पर अर्जुन दो प्रश्न मुख्य रूप से रखता है। पहला तो यह कि सनातन-धर्म लुप्त हो जायेगा- सनातन-धर्म के लिए वह आहें भरता है और दूसरा कि वर्णसंकर पैदा होगा। श्रीकृष्ण ने इसका एक ही उत्तर दिया- अर्जुन! इस विषम-स्थल में, जिसकी समता का कोई स्थल विश्व में नहीं है, तुझमें अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? जिस क्षमता का युद्ध मैं बताता हूँ, उस क्षमता का संघर्ष निःसन्देह कुछ भी नहीं है।

तो क्या शाश्वत-धर्म की सुरक्षा के लिए व्यग्र होना अज्ञान है? वर्णसंकरता के जघन्य दोष से बचा लेने का प्रयास भी क्या अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! जिसे तू सनातन-धर्म कहता है, न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया है न यह परम कल्याण करनेवाला है और न यह कीर्ति को ही बढ़ानेवाला है। सिद्ध है, अर्जुन जिसे सनातन-धर्म समझता था, न तो वह सनातन धर्म था और न उसे वर्ण की सही जानकारी ही थी। वह अर्जुन का भ्रम मात्र था। तभी तो उसने कहा कि यह सब अज्ञान है, तब आप ही बतायें कि धर्म क्या है, वर्ण क्या है? वर्णसंकर क्या है?-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। *(गीता, २/७)*

''धर्म के विषय में मोहितचित्त मैं आप से पूछता हूँ। आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। मुझे वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।'' अर्जुन परमकल्याण से वंचित नहीं रहना चाहता। श्रीकृष्ण ने पहले तो सनातन-धर्म की व्याख्या की, तदनन्तर वर्णसंकर पर प्रकाश डाला। अब आइये वर्णसंकर पर विचार किया जाय। तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न तो कोई उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। कर्म ही इस मानव-जीवन की सफलता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिए कर्म करने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। सिद्ध है कि कर्म उस आत्मा तक पहुँचाता है; जिसके पश्चात् फिर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। पहले भी इस कर्म को किये बिना न तो कोई पाया है और न भविष्य में कोई पा सकेगा। कर्म ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। यही मानव-तन की सार्थकता है।

''पार्थ! मुझे भी तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं है तथा प्राप्त होने योग्य किंचित् वस्तु भी अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्म में बरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जाय और मैं वर्णसंकर का कर्ता कहा जाऊँ।''

गीता की दृष्टि में कर्म का तात्पर्य आराधना ही है, जिससे आराध्य प्रसन्न होते हैं, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है, जो संसार-बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्ति दिलाता है।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर का होना तो सुना गया; किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण एक नयी बात कहते हैं कि स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि चिन्तन-कर्म को नहीं करता तो सब लोग वर्णसंकर हो जायेंगे। वस्तुतः इस जीवात्मा का शुद्ध वर्ण परमात्मा है।

हंसा तूँ सुबरन बरन, हलकी तेरी चाल।
एक कला के बीछुरे, विकल फिरे बेहाल।।

यह हंस (जीवात्मा) वस्तुतः 'सुबरन'- शुद्ध वर्ण का है। केवल स्वरूप के विस्मृत हो जाने से विकल होकर दर-दर भटक रहा है। इस आत्मा को परमात्मा तक की दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है। इसी कर्म को करके पूर्वकाल में जनक इत्यादि महर्षियों ने नैष्ठिकीम् परम सिद्धि को प्राप्त किया था जिसके पश्चात् कर्म किये जाने से न तो कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है। फिर भी ऐसे महापुरुष कर्म में ही बरतते हैं; क्योंकि यदि ऐसे महापुरुष सावधान होकर कर्म में न बरतें तो लोग प्रायः उनकी नकल करेंगे कि महाराजजी तो प्रायः बैठे रहते हैं, भजन तो करते ही नहीं। ऐसे अन्धानुकरण से वे श्रेयपथ से च्युत हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति जब चिन्तन-पथ में है वह अपने वर्ण की ओर, शुद्ध स्वरूप परमात्मा की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है, किन्तु जब वह आराधना से हट जाता है तो सिद्ध है कि वह प्रकृति की भँवर में फँसाव ले रहा है। यही वर्णसंकर का होना है। परमात्मा ही हमारा शुद्ध वर्ण है। उसकी ओर अग्रसर न होकर जड़-प्रकृति में भटकना ही वर्णसंकर होना है।

सारांशतः श्रीकृष्ण का आशय है कि इस कर्म को किये बिना उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को न किसी ने पाया है, न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। कर्म अर्थात् आराधना अनिवार्य है। किन्तु जो कर्म करके आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट हो गया उसके द्वारा कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए कर्म में बरतता है। कदाचित् वह कर्म में न बरते तो उन महापुरुष की तो कोई क्षति नहीं लेकिन उसका अनुकरण करनेवाला समाज वर्णसंकर हो जायेगा। समाज महापुरुषों का अनुकरण करता ही है; क्योंकि वे सभी जीवात्माओं के मूल केन्द्र में स्थित हैं। जिस प्रकार समुद्र की ओर

सभी नदियाँ स्वभावतः अग्रसर होती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र परमात्मा है। परमात्मा से ही सभी संचालित होते हैं। उसी कक्षा में महापुरुष भी स्थित होता है इसीलिए सभी जीवात्माएँ महापुरुषों का अनुसरण करती ही हैं। केवल कोरे उपदेश से साधन-क्रम पकड़ में आता भी नहीं। महापुरुष क्रियात्मक ढंग से उन उपदेशों को अपने आचरण में ढालकर लोक-शिक्षण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यदि महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो कतिपय साधक साधना स्थगित करके महापुरुष की नकल करके अपना पूर्णत्व जताने लगते हैं। इससे वे पूर्ण नहीं हो जाते बल्कि स्वरूप से भटककर वर्णसंकर हो जाते हैं।

तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी को चाहिए कि कर्म में लगे हुए अज्ञानियों को चलायमान न करे बल्कि स्वयं कर्मों का भली प्रकार आचरण करता हुआ उनसे भी करावे। यदि महापुरुष ऐसा नहीं करता तो वह वर्णसंकर का कर्ता होगा; क्योंकि साधक उसका अनुकरण करके साधना से विरत हो जायेंगे, आत्मिक पथ से च्युत हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में वर्णसंकर हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन मनीषियों से तुलना करते हुए कहा कि यदि वे महापुरुष सावधान होकर क्रिया में न बरतें अथवा मैं न बरतूँ तो वर्णसंकर का कर्ता होऊँ।

जहाँ तक स्त्रियों के दूषित होने से उत्पन्न वर्णसंकरता का प्रश्न है, महापुरुषों की दृष्टि में यह मात्र परिस्थिति है; किन्तु सामाजिक संगठन के लिए रक्त की शुद्धता अपरिहार्य है। वह जीवन की मर्यादा है, कल्याणपथ-अन्वेषण की पहली सीढ़ी है। दाम्पत्य-जीवन के लिए समाज में नितान्त आवश्यक है। उसमें असुरों की तरह नष्ट नहीं होते बल्कि बाल-माधुर्य बचा रहता है। महापुरुषों के इतिवृत्त से प्रमाणित है कि माता-पिता की त्रुटियों का कर्तव्य-परायण पथिक पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

ईसा मसीह वर्णसंकर थे। उनकी माँ मरियम का विवाह हुआ तो सात महीने का लड़का पेट में था। लोगों ने मरियम को कुलक्षणा कहकर उन्हें समाज एवं नगर से निकालने का विचार किया (लगता है पातिव्रत धर्म उस समय जेरूसलम में प्रचलित था। आज तो कोई नहीं निकालता) फिर, स्वप्न दिखाई पड़ा कि इसके पेट में जो बालक है वह पवित्रात्मा है। बाद में लोगों ने जोड़ दिया कि वह पवित्रात्मा से गर्भवती हुई। वस्तुतः कोई पुण्यात्मा ही पेट में था न कि परमात्मा मरियम से गन्धर्व विवाह करने आया। अस्तु, ईसा बड़े अच्छे महापुरुष हुए। विश्व का काफी बड़ा भाग उनका अनुसरण करता है। भारतीय विचारधारा, भारतीय दर्शन ही उनके उपदेशों में भी है। प्राप्तिवाले सभी महापुरुषों का उपदेश एक ही जैसा है; क्योंकि एक ही सत्ता को सभी ने देखा तो दूसरा कोई कहेगा क्या? प्राप्तिवाले महापुरुष समाज के बीच कभी दरार डाल ही नहीं सकते। वे कभी नहीं कहते कि आप हिन्दू हैं, वह ईसाई है; तुम बौद्ध, जैन, पारसी या सिख हो। महापुरुषों के नाम पर उनके अनुयायी पीछे दरार डालते रहते हैं। स्वार्थ-सिद्धि के लिए महापुरुषों के नाम पर वे अनेक भ्रान्तियों, रूढ़ियों, सम्प्रदायों का प्रचलन करते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक महापुरुष के साथ ऐसा होता आया है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर इत्यादि सबके उपदेशों पर कुरीतियाँ पनप गयी हैं। यदि किसी ने उस सत्ता का स्पर्श पा लिया, जो सबकी आत्मा में संचारित है फिर वह मानव-मानव में दरार कैसे डालेगा? यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह लक्ष्य से अभी दूर है।

कबीर 'लहरतारा तालाब' पर पड़े मिले। अनुयायियों ने गढ़ दिया कि प्रकाश-पुंज आकाश से उतरा, बहुत देर मँडराता रहा, एक कमल पर केन्द्रित होकर गिरा और बालक बन गया। जुलाहे की स्त्री गयी और ले आयी। इस प्रकार स्वयं परम चेतन परमात्मा ही कबीर के रूप में प्रगट हुआ। माता-पिता के संयोग से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। लेकिन कबीर ने

अपना परिचय दिया कि मैं ही कबीर हूँ, ऐसी बात नहीं; आप भी कबीर हो सकते हैं-

कबिरा कबिरा क्या करै, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर।।

कबीर अच्छे हैं, कबीर महात्मा हैं- क्या कबीर-कबीर रट लगा रखा है? **'सोधो सकल शरीर'**-स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की शोध कर लो। किन्तु आशा और तृष्णा के रहते वह शोध सम्भव नहीं है। अतः **'आशा तृष्णा बस करे'**- आशा और तृष्णा को जिसने भी वश में किया, **'सोई दास कबीर।'** जितना हमने किया, आप भी कर लें तो आप भी कबीर बन जायँ। **'काया का बीर सोई कबीर।'**

ठीक इसी प्रकार वशिष्ठ उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि कोल थे। कोलों में उठना-बैठना, खाना-पीना, शादी-विवाह सब था, किन्तु ब्रह्मर्षि हुए। क्षत्रिय विश्वामित्र अन्ततः ब्रह्मर्षि बने। मछोदरी के लड़के व्यास वर्णसंकर थे; किन्तु सर्वोपरि महर्षि कहलाये। वस्तुतः माता-पिता की भूलों का उत्पन्न होनेवाले बालक पर कोई प्रभाव नहीं पडता। **'अपनी करनी पार उतरनी।'**- सभी अपनी करनी लेकर आते हैं। माता-पिता, स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी जन्म-जन्मान्तरों के बदले हैं; जिसे कोई पिता बनकर, कोई पुत्र बनकर चुकाता रहता है। 'बदला' वर्णसंकर नहीं होता। वस्तुतः वर्णसंकर का अर्थ यह है कि यदि आत्मज्ञ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो उसी की नकल करके जो लोग क्रिया में नहीं बरतते, वे वर्णसंकर हो जाते हैं।

।। ॐ ।।

७. ज्ञानयोग एवं निष्काम कर्मयोग

ज्ञानयोग एवं निष्कार्म कर्मयोग को लेकर समाज में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। एक पौराणिक घटना से इस प्रकरण पर प्रकाश पड़ता है। नारदजी बड़े भजनानन्दी थे, ज्ञानयोगी थे। अपने पर निर्भर होकर जो साधना में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञानमार्गी कहलाता है। जो इष्ट पर निर्भर होकर उसी साधना को करता है, वह निष्काम कर्मयोगी है। साधना वही है, केवल करने के दृष्टिकोण दो हैं।

भगवान श्रीकृष्ण जब द्वारिकाधीश हो गये, नारदजी समय-समय पर वहाँ पहुँचते ही रहते थे। वहाँ उनका बड़ा स्वागत होता था इसलिए वे प्राय: वहाँ जाते ही रहते थे, लेकिन जब वह विदा होते तो भगवान चार बाल्टी पानी लेकर वह जगह धुला दिया करते थे। एक बार धुलाई की क्रिया पर नारदजी की दृष्टि पड़ गयी। उन्हें आश्चर्य हुआ कि जहाँ वह बैठते हैं, वह स्थान क्यों धुलाया जाता है। इसे जानने के लिए वह बार-बार आने लगे। जगह बदल-बदल कर बैठने लगे तो स्पष्ट हो गया कि वह जहाँ भी बैठते हैं, वही जगह धुलाया जाता है। नारदजी ने भगवान से इसका कारण पूछा। भगवान ने कहा– नारद! सन्तों के बैठने से तो जगह पवित्र होती है लेकिन तुम अभी इतने बड़े सन्त नहीं हो। नारदजी ने जानना चाहा कि भगवन्! मुझमें क्या कमी है? भगवान ने बताया कि तुम निगुरे हो।

नारदजी ने कहा– प्रभो! मैं किसे गुरु बनाऊँ, आप ही हमारे गुरु बन जाइये। भगवान ने कहा– नारद! तुम्हारा गुरु मैं तो नहीं बन सकता। नारद ने पुन: पूछा– भगवन्! तो फिर किसी सद्गुरु का परिचय दे दीजिए। भगवान ने कहा– हाँ, यह हो सकता है। गंगा के किनारे बड़े सवेरे जो प्रथम पुरुष दिखाई पड़े, वही तुम्हारे गुरुदेव हैं। नारदजी ब्राह्म मुहूर्त से ही वहाँ माला लेकर खड़े हो गये। वह विचार करने लगे कि हे भगवन्! वीणा

बजाते, नारायण-नारायण करते देवर्षि का पद पाकर अभी अशुद्ध ही हैं हम? चलो, आज हमारा अहोभाग्य है कि सद्गुरु मिलेंगे। कितनी दिव्य मूर्ति होगी!

तब तक एक मल्लाह उधर से निकला जो चार मछली पीठ पर लटकाये और बगल में जाल दबाये था। नारदजी दस कदम पीछे हट गये, सोचा– सबेरे-सबेरे यह कहाँ से चला आया। फिर विचार किया कि नदी-नाले के किनारे केवट, कांगड़ नहीं आयेंगे तो कौन आयेगा? गुरुदेव अभी पीछे आते होंगे। प्रतीक्षा करते उन्हें आठ बज गये किन्तु उस दिन उधर कोई आया ही नहीं। उदास नारदजी भगवान के समक्ष पहुँचे। भगवान ने पूछा– नारदजी! इतनी उदासी का कारण क्या है? कोई नहीं आया क्या? नारदजी बोले– प्रभो! आया तो था लेकिन वह एक केवट था। भगवान बोले– तब तो नारदजी आप चूक गये। चलिये, आपको एक अवसर और भी है। इस बार भी यदि आप चूक गये तो एक जन्म और लेना पड़ेगा और गुरु भी यही मिलेंगे। नारद पुनः गंगा तट पर चले आये, मन ही मन भगवान से प्रार्थना करने लगे– हे भगवन्! कृपा करना, कहीं वह मल्लाह पुनः न दिखाई पड़े। किन्तु ठीक उसी समय पर ब्रह्मबेला में वही मल्लाह बगल में जाल दबाये तीन-चार मछली पीछे लटकाये दिखाई पड़ा। नारदजी ने सोचा कि इन्हें माला डालूँ या एक जन्म और लूँ, तब डालूँ! गुरु तो यही मिलना है इसलिए साहस करके वह आगे बढ़े और गले में माला डाल दी। वस्तुतः वह महात्मा थे। नारद के ऊपर बिगड़ खड़े हुए– अरे देवर्षि नारद आप! किसने आपको बहका दिया? आप देवर्षि पद पर हैं, आपके बराबर कौन है दुनिया में, किसके झाँसे में आ गये? देख नहीं रहे हो हमारी दशा! नारदजी ने कहा– महाराज! अब अधिक दुराव न करें, शरण में रख लें। जब उन महात्मा ने देखा कि नारद अब पीछा छोड़नेवाले नहीं हैं, तब उन्होंने कहा– नहीं मानते हो तो चलो यही सही। वह बन गये गुरु और

नारदजी हो गये उनके शिष्य! वास्तव में सद्गुरु का एक सम्बोधन केवट भी है। किन्तु सद्गुरु की पहचान तब होती है जब भगवान स्वयं बतावें कि वहाँ पर हैं तुम्हारे गुरु महाराज! **'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।।' (मानस, ७/६८/७)**

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
(मानस, ७/४३/७-८)

मनुष्य-तन भवसागर से पार होने के लिए जहाज है, एक बेड़ा है, मेरी अनुकूलता ही अनुकूल वायु है। सद्गुरु ही भवसिन्धु से पार करनेवाले कर्णधार अर्थात् केवट हैं। यह सभी संयोग दुर्लभ हैं। इतना प्राप्त होने पर भी–

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ।।(मानस, ७/४४)

जो इतनी सुविधा मिलने पर भी भवसागर से पार नहीं हो जाता, वह कृतनिन्दक है, करने से कतराता है, मन्दमति है और अपनी ही आत्मा का हत्यारा है। इस भवसरिता से पार होने के लिए सद्गुरु ही समर्थ केवट हैं। उनके पास जाल है जिससे साधक के मनरूपी मछली को पकड़कर अपने पास लटका लेते हैं। भजन-जागृति के पश्चात् साधक कहीं भी चला जाय, तब भी वह सद्गुरु के समीप ही रहता है। साधक का काम है आज्ञा-पालन। आज्ञा-उल्लंघन है तो थोड़े समय के लिए साधन-क्रम शिथिल हो जाता है किन्तु अन्ततः भजन-जागृति साधक का कल्याण करके ही रहती है इसलिए जब तक नारदजी अपने बल पर भजन करते थे, ज्ञानमार्गी थे और जिस दिन से सद्गुरु को समर्पित कर दिया, उनका अभिमान तिरोहित हो गया, साधना उन्हीं महापुरुष के संरक्षण में चलने लगी। यही निष्काम कर्मयोग है।

वास्तव में सद्गुरु, भगवान और माया– तीनों सब जगह रहते हैं। एक भी कण खाली नहीं है जहाँ वे न हों। साधक में केवल लगन होनी चाहिए। इस प्रकार जो सद्गुरु के प्रति समर्पण के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, वह निष्काम कर्मयोगी होता है; और जो अपने बलाबल का निर्णय लेकर चलता है कि आज इस भूमिका में हूँ, आगे उस भूमिका में रहूँगा तो वह जागृति मिलेगी, इस प्रकार जो अपनी बुद्धि से चलते हैं, ज्ञानमार्गी कहलाते हैं। उनके सामने भी विघ्न आते हैं। वे लड़ते भी हैं, किन्तु उनके पतन की सम्भावना अधिक रहती है। वही भक्तिमार्गी, निष्काम कर्मयोगी कभी पटकनी नहीं खाता। भगवान उसे गिरने दें तब तो! भगवान कहते हैं–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गीता, ९/२२)

अर्जुन! अनन्य भाव से जो मुझे भजते हैं, उन भक्तों के योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। योग पढ़ाना, प्रकृति के अनन्त खोह-खंदकों से निर्विघ्न पार ले जाना, सामने दृश्य बनकर स्वयं खड़े हो जाना, दर्शन-स्पर्श और स्थिति दिलाना–यह भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। इसी को गीता में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। आइये, देखें–

प्रश्न- महाराजजी, ज्ञानयोग और कर्मयोग में क्या अन्तर होता है? दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर– रणक्षेत्र में अपने ही परिवार को खड़ा पाकर अर्जुन युद्ध से कतराने लगा। उसने कहा कि अपने स्वजनों को मारकर मैं सुखी कैसे हो सकूँगा? तीनों लोकों के राज्य में तथा पृथ्वी के धनधान्य-सम्पन्न अकंटक साम्राज्य में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अतः इतने के ही लिए मैं युद्ध नहीं

करूँगा। इससे तो भिक्षा माँगकर खाना ही श्रेयस्कर है। हाँ, इसके आगे कोई सत्य हो तो मेरे प्रति कहिये, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं- अर्जुन! इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व मिलेगा और जीतोगे तो महीम् स्थिति ही प्राप्त हो जायेगी अर्थात् इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में दैवी सम्पत्ति अर्जित करते-करते यदि शरीर का समय समाप्त हो गया तो देवत्व तो मिलेगा ही, पार पा जाने पर उस महामहिम परमात्मा में स्थिति मिल जायेगी, जहाँ से महिमा प्रसारित होती है। अतः जय-पराजय, हानि-लाभ, सिद्धि-असिद्धि को समान समझते हुए युद्ध कर।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि अपने हानि-लाभ पर स्वयं विचार करते हुए युद्ध कर। युद्ध तो करना ही पड़ेगा। हानि-लाभ का स्वयं विचार करके साधन तो पूरा करना ही पड़ेगा। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने का नाम ज्ञानयोग नहीं है। बहुत से लोग साधन किये ही बिना कहते हैं, ''मैं आत्मा हूँ, पूर्ण हूँ। आत्मा ही अजर-अमर और शाश्वत है।''-ऐसा चिन्तन करना ज्ञानयोग है। किन्तु श्रीकृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अपरिवर्तनशील इत्यादि बताया, वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। वह तो महापुरुष की स्थिति है, साधन नहीं। वह तत्त्वदर्शन है, ज्ञानयोग नहीं। वस्तुतः स्वयं पर निर्भर होकर कर्म करने का नाम ज्ञानयोग है। ''मैं इस भूमिका में हूँ, भविष्य में उस सोपान से गुजरूँगा। यदि पार पाता हूँ तो महामहिम-स्थिति अन्यथा देवत्व तो निश्चित ही है।''-इस प्रकार अपने भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होने का नाम ही ज्ञानयोग है।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है। इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे युक्त हुआ तू कर्मों

के बन्धन का भली प्रकार नाश करेगा। गीता (२/४०) में भगवान कहते हैं कि इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं, अर्थात् बीज का नाश नहीं, सीमित फलरूपी दोष नहीं, इस कर्म से सम्पादित धर्म का स्वल्प आचरण भी महान जन्म-मरण के भय से उद्धार करने वाला होता है। इसमें निश्चयात्मक क्रिया एक है, परिणाम एक है, तो क्या जो बहुत-सी क्रियाएँ करते हैं, वे भजन नहीं करते? भगवान कहते हैं- नहीं! अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनके वाणी की छाप जिन-जिनके चित्त पर पड़ती है, उनकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। ज्ञानयोग से तू जिस स्थिति को प्राप्त होगा, उसी को कर्मयोग के आचरण से भी प्राप्त कर सकेगा। दोनों का लक्ष्य एक है, क्रिया भी एक ही है। हाँ! करने का तरीका दो है। तो भला उस कर्मयोग में करना क्या होगा? ''अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ कि फल है ही नहीं, कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो।''- यही है कर्मयोग। इसमें साधक की अपनी कोई कामना नहीं रहती। वह इष्ट पर निर्भर होकर चलता है इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग भी कहते हैं। इसमें अनुरागी अपने आराध्य के आश्रित होकर उनके हाथ का मात्र यन्त्र बनकर चलता है। अनुरागी यह तो जानता है कि वह कभी-न-कभी पार अवश्य लगेगा किन्तु कब और कितना लगा?- इसे वह नहीं जानता। उसके द्वारा जो भी पार लगता है वह कर्ता की उपलब्धि नहीं, आराध्य की देन है।

अध्याय तीन में अर्जुन प्रश्न करता है- भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा आप ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताते हैं, तो फिर आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को कर्मयोग में भयंकरता दिखाई पड़ी और ज्ञानयोग उसे सरल लगा; क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व है। शरीर का

अन्त हो जाने पर सफलता नहीं मिली तो भी देवत्व है, लाभ ही है और यदि जीत जाते हैं, शरीर के रहते मन के पूर्ण निरोध तक पहुँच जाते हैं तो सर्वस्व मिलता है, महामहिम स्थिति मिलती है। दोनों प्रकार से मिलना ही है। स्वतंत्र रहकर अपना हानि-लाभ समझते हुए चलना है, अतः अर्जुन को ज्ञानमार्ग सरल लगा। निष्काम कर्मयोग में कर्म करते रहने का अधिकार है, फल की वासना न हो। ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर कर्म करने के लिए तत्पर हो जा। हाँ, एक झीना-सा प्रलोभन अवश्य है कि कभी-न-कभी कर्म-बन्धन से मुक्त अवश्य हो जाओगे, लेकिन जो कुछ समझाया गया उससे वर्तमान में तो कुछ मिलनेवाला नहीं है, फिर ऐसा कौन होगा जो अकारण खाक छानता फिरे? यद्यपि आगे यह निष्काम कर्मयोग महान् विभूतियों के आलोक को दर्शानेवाला होता है; किन्तु क्षण-प्रतिक्षण की उपलब्धि से बेखबर साधक को प्रारम्भ में यह निरस प्रतीत होता है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि आप मुझे निष्काम कर्मयोग की भयंकरता में क्यों फँसाते हैं? अतः निष्काम कर्मयोग अर्जुन को भयंकर लगा।

तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं। (पहले का आशय सतयुग या त्रेता में नहीं, बल्कि अभी-अभी जो अध्याय दो में कह आये हैं- ज्ञानियों को ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों को निष्काम कर्मयोग से।) किन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्यागने का कोई विधान नहीं है।

न तो ऐसा ही है कि कर्मों को न आरम्भ करके कोई निष्कर्मता की परमसिद्धि को प्राप्त कर ले और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से भी कोई ज्ञानी नहीं होता। इसलिए ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही होगा। गीता (६/१) में श्रीकृष्ण ने पुनः इस पर बल दिया कि कर्म और अग्नि को छोड़नेवाला ज्ञानी नहीं हो सकता।

यहाँ उन्होंने केवल क्रिया को ही लिया है। कर्म किया ही नहीं तो कैसा निष्कर्मी?

श्रीकृष्णकाल में भी ऐसी भ्रान्ति प्रचलित थी इसीलिए उन्होंने निराकरण किया कि अकर्मण्यता कदापि निष्कर्मता नहीं है। क्योंकि कोई भी पुरुष क्षणमात्र कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर वह कर्म करता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न सत्, रज, तम तीनों गुणों का उतार-चढ़ाव है, तब तक उसी के अनुरूप कार्य होते ही रहेंगे। हाँ, जब यज्ञ के पूर्तिकाल में ज्ञानामृत का पान करनेवाला पुरुष शाश्वत सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ पर प्रकृति ही विलीन हो जाती है, इसलिए उन्हें कर्म नहीं बाँधते। उस ज्ञानाग्नि में कर्म दग्ध हो जाता है। किन्तु जब तक प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक कर्म नितान्त आवश्यक है। इतने पर भी बहुत से लोग हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं, श्रीकृष्ण कहते हैं- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं, धूर्त हैं। अतः ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। दोनों के बीच क्रिया एक ही है, कोर्स एक ही है, डिग्री भी एक जैसी है। अन्तर केवल इतना ही है कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर, अपने को निछावर करके कर्म करता है और ज्ञानयोगी अपनी सदृशता से अपना बलाबल समझते हुए पूर्तिपर्यन्त उसी कर्म में प्रवृत्त रहता है। जब तक उस शाश्वत को न पा लें, कर्म में प्रवृत्ति अभीष्ट है।

जब कर्म करना ही होगा तो **'नियतं कुरु कर्म त्वं'** *(गीता, ३/८)*- अर्जुन! तू निर्धारित किये कर्म को कर! वह निर्धारित कर्म है क्या? **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** *(गीता, ३/९)*- यज्ञ की प्रक्रिया ही एकमात्र कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है क्या वह कर्म नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, वह तो इस लोक का एक बन्धन है। इसी यज्ञ की प्रक्रिया को ज्ञानयोग में करना है और यही प्रक्रिया

निष्काम कर्मयोग में भी करनी होती है। दोनों में वही यज्ञ किया जाता है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक का बन्धन है, कर्म नहीं; क्योंकि कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** *(गीता, ४/१६)*- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाता है, बाँधता नहीं।

अब अर्जुन ने भली-भाँति समझ लिया कि ज्ञानमार्ग हो अथवा कर्ममार्ग हो, दोनों ही प्रणालियों में कर्म तो करना ही होगा। क्रिया दोनों में एक ही है। तब उसने जानना चाहा कि दोनों में अच्छा कौन पड़ेगा? कौन-सा मार्ग सुविधाजनक रहेगा? उसने प्रश्न किया -

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। *(गीता, ५/१)*

भगवन्! कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं तो कभी ज्ञान-दृष्टि से किये जानेवाले कर्म की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से किसी एक को निश्चय करके कहिये, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! परमकल्याण तो दोनों करनेवाले हैं। संन्यास अर्थात् ज्ञान-दृष्टि से किये जानेवाले कर्म और निष्काम दृष्टि से किये जानेवाला कर्म दोनों में से प्रत्येक परमकल्याण करनेवाला है; किन्तु ज्ञानयोग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी से आकांक्षा रखता है- ऐसा निष्काम कर्मयोगी सदैव संन्यासी समझने योग्य है। संन्यास, सांख्य अथवा ज्ञानयोग के द्वारा जिस परमतत्त्व को प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के द्वारा भी उसी को प्राप्त किया जाता है। दोनों एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। मूढ़लोग ही दोनों को अलग-अलग कहते हैं, न कि विवेकीजन। फलरूप से दोनों को जो एक देखते हैं उन्हीं की दृष्टि यथार्थ है। किन्तु अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना संन्यास का प्राप्त होना दुर्लभ है। ज्ञानयोग में क्रिया वही है जो निष्काम कर्मयोग में है। निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना

कोई ज्ञानी नहीं होता। कर्म तो करना ही होगा। भगवत्-स्वरूप का मनन करनेवाला योगयुक्त पुरुष तत्क्षण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। वह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्म से संयुक्त पुरुष, जिसने इन्द्रियों और अन्तःकरण को विशेष रूप से जीत लिया है, कर्म करते हुए भी लिपायमान नहीं होता।

युक्तपुरुष करते हुए भी लिपायमान क्यों नहीं होता? श्रीकृष्ण कहते हैं- **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** *(गीता, ५/८)*- वह तत्त्व से संयुक्त है इसलिए देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, भोजन करते, सोते, श्वास लेते, त्याग इत्यादि सारे कार्य करते ऐसी धारणा उसे उपलब्ध हो जाती है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में ही प्रसारित हो रही हैं। यह युक्तपुरुष का लक्षण है। प्राप्ति के पश्चात् युक्तपुरुष की रहनी का चित्रण है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार युक्तपुरुष संसार में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है। यह योगयुक्त पुरुष का लक्षण है, न कि ज्ञानमार्ग की साधना का चित्रण है। आजकल प्रायः लोग कहा करते हैं कि हम तो ज्ञानी हैं, हमारी इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरत रही हैं, हमारे लिए कोई कर्म नहीं है, इत्यादि। ऐसी ही भ्रान्तियाँ श्रीकृष्णकाल में भी थीं। उन्हीं पर कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण हैं और युक्त एक स्थिति-विशेष है। युक्तपुरुष के लक्षण का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। *(गीता, ६/१८)*

योग के अभ्यास से विशेष रूप से वश में किया चित्त जिस समय परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है उस समय सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। ऐसा पुरुष कर्मों में लिपायमान नहीं होता। अतः जब तक यह स्थिति नहीं मिल जाती, कर्म तो करना ही होगा।

श्रीकृष्ण इस बिन्दु पर बार-बार बल देते हैं कि ज्ञानमार्ग में भी कर्म छोड़ने का विधान नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। *(गीता, ६/१)*

कर्मफल के आश्रय से रहित होकर जो **'कार्यम् कर्म'**- करने योग्य प्रक्रिया-विशेष को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाओं को त्यागनेवाला, कर्म को त्यागनेवाला न तो संन्यासी है और न योगी ही है।

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।। *(गीता, ६/२)*

अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान। कोई भी पुरुष संकल्पों का त्याग किये बिना संन्यासी अथवा योगी नहीं हो पाता। संकल्पों का उतार-चढ़ाव मन पर होता है। मन का निरोध होने पर ही संकल्पों का शमन सम्भव है।

अब संकल्पों का निरोध कैसे हो? कहने मात्र से तो संकल्प छूट नहीं जाते। इसलिए श्रीकृष्ण उपाय बताते हैं-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। *(गीता, ६/३)*

योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। कौन-सा कर्म? 'कार्यम् कर्म', 'नियत कर्म' जो यज्ञ की प्रक्रिया है, काम, क्रोध, लोभ को त्यागने पर ही उसमें प्रवेश मिलता है। कर्म करते-करते योग की पराकाष्ठा पा लेने पर **'शमः कारणमुच्यते'**- सर्वसंकल्पों का अभाव है। जिस समय इन्द्रियों के भोगों में पुरुष आसक्त नहीं होता और कर्म करने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है, उस समय **'सर्वसंकल्प संन्यासी'**- सभी

संकल्पों का अभाव होता है। वही संन्यास है, वही योग है। बीच में न कहीं संन्यास, न योग ही है। अतः पुरुष को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे। इससे सिद्ध है कि आत्मा का उद्धार और पतन भी होता है। कर्म के द्वारा मनसहित इन्द्रियों का जिसने भली प्रकार निरोध कर लिया है उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है। जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः संन्यास अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, **'कार्यम् कर्म'**– करने योग्य प्रक्रिया-विशेष को करना ही होगा। इस प्रकार स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने दोनों मार्गों में कर्म की अनिवार्यता पर बार-बार बल दिया है।

श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति पर बल देते हुए कहा- **'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।'** *(गीता, ११/५५)*– अर्जुन! **'मत्कर्मकृत्'**– मेरे द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ कर्म मेरे लिए ही कर। **'मत्परम्'**– मेरे परायण होकर कर। **'मद्भक्तः'**– मेरा अनन्य भक्त हो। किन्तु **'सङ्गवर्जितः'**– संगदोष में रहते हुए इस कर्म का होना असम्भव है। असंग रहकर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में जो बैरभाव से रहित है वह मुझे प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग अपनाने का परामर्श दिया। तब अर्जुन ने प्रश्न किया (गीता, १२/१-'**एवं सततयुक्ता ये**')- भगवन्! इस प्रकार जो भक्त निरन्तर आपकी उपासना करते हैं और दूसरे, जो अव्यक्त अक्षर-ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? (अर्जुन अब भी यही सोच रहा है कि जो श्रेष्ठ है उसी को पकड़ूँ।) योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि मुझमें मन को एकाग्र करके भजन-ध्यान में **'नित्ययुक्त'**– निरन्तर लगे हुए श्रद्धा के साथ जो मुझ (सगुण परमेश्वर को) को भजते हैं, वे मुझको योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे।

साधकों को उन्होंने इंगित किया है कि परमात्मा के चिन्तन की अपेक्षा परमात्मा में स्थित ऐसे महापुरुष का भजन श्रेयस्कर है, जो साधक के समय में वर्तमान हों। ऐसे महापुरुष श्रीकृष्ण की तरह शरीर के आधारवाले होते हुए भी शाश्वत स्वरूप की उपलब्धि वाले होते हैं। उनके लिए शरीर तो रहने के लिए एक मकान मात्र होता है। ऐसे महापुरुष के निर्देशन में भजन में अग्रसर होना ही निष्काम कर्मयोग है। इसी को श्रीकृष्ण भी अतिश्रेष्ठ मानते हैं।

दूसरी ओर ज्ञानमार्गी, जो इन्द्रियों को अच्छी प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी परमात्मा को लक्ष्य बनाकर उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं; **'सर्वभूत-हितेरताः'** *(गीता, १२/४)*- सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए (सम्पूर्ण भूतों का हित केवल भगवान के चिन्तन में है, बाहरी सुख-सुविधाओं में नहीं है। ये सुख-सुविधायें तो कुछ ही दिनों में छूट जाती हैं। परमात्म स्वरूप योगीजन सबमें निवृत्ति के संस्कार डालते हैं।) ऐसे योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, किन्तु **'क्लेशोऽधिकतरः तेषामव्यक्तासक्त- चेतसाम्।'** *(गीता, १२/५)*- उन पुरुषों के रास्ते में क्लेश अधिक हैं। कौन-सा क्लेश अधिक है? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'देहवद्भिः'**- देहाभिमानियों को वह अव्यक्त विषयक गति का प्राप्त होना दुःखपूर्ण है। ज्ञानमार्गी सोचता है- 'आज साधना में मैं यहाँ पर हूँ, आगे इतनी मंजिल तय करूँगा, मैं स्वयं को प्राप्त करूँगा।'- इस प्रकार 'मैं-मैं' कहते-कहते वह लक्ष्य से बहुत दूर रह जाता है, उसके चारों ओर 'मैं' का ही आवरण तन जाता है। ज्ञानमार्गी अपने ही बल पर साधन में प्रवृत्त होता है और प्रायः वह देहाभिमान में परिणीत हो जाता है। ज्ञानमार्ग में यही विघ्न-विशेष है। किन्तु निष्काम कर्मयोग में जो मेरे आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके अनन्य भाव से निरन्तर **'ध्यायन्तः'**- ध्यान करते हैं, **'उपासते'**-मेरी उपासना करते हैं, **'तेषामहं समुद्धर्ता**

मृत्युसंसारसागरात्।' *(गीता, १२/७)*- उन्हें मैं मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार कर देता हूँ। ऐसे लोगों की **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** *(गीता, ९/२२)*- योग की रक्षा मैं स्वयं करता हूँ। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग में सुविधा विशेष है क्योंकि अनुरागी की हार-जीत का दायित्व आराध्य पर होता है। अनुरागी मन, क्रम, वचन से निर्भर हो जाय फिर तो सारी जिम्मेदारी आराध्य-देव की, उन महापुरुष की हो जाती है जैसा कि-

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी।। (मानस, ३/४२/५)

अतः बन्धुओ! चिन्तन-क्रम में प्रवृत्त होने पर निष्काम कर्मयोग और ज्ञान-पथ दोनों आपकी मुट्ठी में हैं, आपके लिए हैं। किसी महापुरुष के संरक्षण में श्रद्धा से आप्लावित नेत्रों से चिन्तन में लगे रहने पर आप निष्काम कर्मयोगी की संज्ञा पा जायेंगे। अथवा प्रण-प्रधान बुद्धि से हार्दिक साहस बटोरकर स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त रहने पर ज्ञानमार्गी कहलायेंगे। कर्म तो हर हालत में करना ही होगा। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। उस कर्म के पालन करने की दो दृष्टियों (ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग) का श्रीकृष्ण ने सविस्तार वर्णन मात्र किया है, जागृति के लिए तो अनुभवी महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा उस क्रिया को आचरण में ढालने का चिरन्तन विधान है।

।। ॐ ।।

८. गीतोक्त युद्धस्थल

भगवान के निवास के विषय में समाज में बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। कुछ लोग आकाश की ओर हाथ करेंगे कि भगवान आकाश में कहीं हैं। कोई सूरज को हाथ जोड़ता है, तो कोई कहता है कि परमात्मा तो अग्नि स्वरूप है अत: वे अग्निपूजा करने लगे। एक महात्मा विनोद में कहा करते थे कि पहले भगवान पृथ्वी पर ही रहते थे। मनुष्य आये दिन समस्याओं को लेकर उनसे प्रार्थना करते थे कि देखो महाराज! आज हमें ससुराल जाना है इसलिए आकाश में तीखी धूप न हो, बादल रहें। तब तक एक धोबी पहुँचा, वह बोला– महाराज! बदली बिल्कुल न रहे, धूप रहे; हमें मुहल्ले भर का कपड़ा सुखाना है। कोई बोला– यदि पानी बरस गया तो ईंट नहीं बन पायेगी, पानी न बरसे। कुछ किसान पहुँचे कि महाराज पानी नहीं बरसेगा, धान तो गया काम से! ऐसी-ऐसी समस्याएँ कि भगवान भी उसे पूरा नहीं कर पाते थे। भगवान भागकर चले गये हिमालय। जनता ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ भी पहुँच गयी।

एक महात्मा से भगवान ने पूछा– महाराज! आप ही बतायें कि हम कहाँ रहें? उन्होंने कहा– प्रभो! आप ऐसा करें कि सबके हृदय में पहुँच जायँ। बाहर-बाहर तो लोग आपको ढूँढ़ लेंगे, लेकिन हृदय में तो तब जायेंगे जब मन को संयमित कर लेंगे। मन का संयम इनके वश का है ही नहीं। संयम करने जहाँ बैठे तो फोन आ गया, अब संयम चला गया चूल्हे में। इसलिए जो मन को एकाग्र कर भजन में लगेगा, तभी हृदय से सम्बन्ध हो पाता है। गीता भी तो यही कहती है–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। ***(गीता, १८/६१)***

अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। जब

वह सबके इतना समीप है कि हृदय के अन्दर है तब लोग उसे देखते क्यों नहीं? भगवान कहते हैं– मायारूपी यन्त्र में आरुढ़ होकर भ्रमवश लोग भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं देख पाते। जब भगवान हृदय में हैं तो उन्हें ढूँढ़ने कहाँ जाय? भगवान बोले– जहाँ है, वहीं ढूँढ़ना पड़ेगा–**'तमेव शरणं गच्छ'**। वस्तु हृदय में है और आप उसे तीर्थों में या बाहर कहीं भी ढूँढ़ोगे तो नहीं मिलेगा। यदि भगवान को पाना है तो आपको हृदय-देश में जाना ही पड़ेगा। हृदय में जाने के लिए रुकावट हैं अनन्त कामनाएँ क्योंकि वहीं तो हृदय में भरी हैं। कामनाओं की पूर्ति में विघ्न पड़ा तो क्रोध! जो बाहर झगड़ा करेगा, वह भीतर नहीं जा सकता। कामनायें पूरी हो गयीं, सफलता मिल गयी तो लोभ कि और मिले, '**जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।**'। मानस में है–

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।। मानस, ३/३८

ये तीनों विकार विज्ञानधाम मुनियों के मन में भी एक पल में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। जो उनसे लड़-झगड़कर इन्हें जीत ले, वहीं हृदय में पहुँचेगा इसलिए युद्धस्थली हृदय है-**'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'** अब आइये, गीता के आलोक में युद्ध के स्वरूप का अवलोकन करें–

प्रश्न– महाराजजी! कुरुक्षेत्र की स्थिति को लेकर आजकल मत-मतान्तर समाचार-पत्रों में देखने को मिलते हैं। वस्तुतः गीतोक्त कुरुक्षेत्र कहाँ है?

उत्तर– देखिए, गीता एक यौगिक शास्त्र है। गीता पढ़ते सभी हैं, पढ़ना भी चाहिए। यह बात अलग है कि प्रारम्भ में अधूरी जानकारी मिलती है किन्तु अधूरी जानकारी ही पूरी जानकारी के लिए प्रेरणा देती है इसलिए पढ़ना आवश्यक है। गीता कोई विरला महापुरुष जानता है और उसके संरक्षण में कोई विरला अधिकारी साधक ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं। आज गीता पर सैकड़ों टीकाएँ मिलती हैं, पचीसों मत हैं जिनकी

आधारशिला गीता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक ही बात कही होगी, फिर एक ही शास्त्र को लेकर इतनी विचार-विभिन्नता क्यों? वस्तुतः मनुष्य जिस वातावरण में पलता है उसका प्रभाव बुद्धि पर पड़ता ही है। अपनी बुद्धि के अनुसार ही लोग शास्त्र का आशय लगाते हैं। राजनीतिज्ञ के हाथ में गीता पड़ी तो कहा, ''स्वदेशी कपड़ा बेचो, यही निष्काम कर्म है। विदेशी कपड़ा बेचना सकाम कर्म है।'' रूढ़िवादियों के अनुसार, ''जिसका जो पैतृक पेशा है वही उसका कर्म है।''- गीता यही कहती है। सेठ-साहूकार कहते हैं कि, ''गीता में व्यवसाय को कर्म माना गया है।'' यही कारण है कि शास्त्र तो एक ही उपदेश करता है परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसे अपने परिवेश में ढाल लेता है। श्रीकृष्ण ने जिस क्षेत्र में युद्ध का चित्रण किया है, यह केवल वही जान सकता है जो श्रीकृष्ण की स्थिति के समीप अथवा उन्हीं की स्थिति वाला हो। साधन के क्रमिक उत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण के स्तर तक पहुँचा हुआ पुरुष ही अक्षरशः बता सकेगा कि जब गीता कही गयी थी, उस समय श्रीकृष्ण के मनोगत भाव क्या थे? घर बैठे लेख पढ़कर हिमालय के दृश्यों की केवल कल्पना ही की जा सकती है, वास्तविक आनन्द के लिए तो हिमालय पर चढ़ना ही होगा। वहाँ पहुँचने पर आपके समक्ष भी वही दृश्य होगा जैसा कि आपने पढ़ा था। इसी तरह गीता ब्रह्मविद्या का क्रियात्मक रूप है एवं योगदर्शन है। केवल अध्ययन करके अथवा उसे कण्ठस्थ करके भी कोई गीता के रहस्यों को जान लेने का दावा नहीं कर सकता।

आपका प्रश्न है कि जिस कुरुक्षेत्र में लड़ाई हुई थी वह कहाँ है? कुछ लोग कहते हैं कि काशी और प्रयाग के बीच कुरुक्षेत्र है तो कुछ लोग उसे हरियाणा में बताते हैं। किन्तु गीता में ऐसा कुछ भी नहीं है। प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र ने पूछा-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।। *(गीता, १/१)*

टीकाकारों ने इसका अर्थ बताया है- संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? टीकाकारों ने क्षेत्र का अर्थ भूमि कहा है जबकि शास्त्रकार का यह आशय नहीं है। जिन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने क्षेत्र का वर्णन किया, उन्होंने यह भी बताया कि वह क्षेत्र है कहाँ? **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'** *(गीता, १३/१)*- अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है- ऐसा कहा जाता है। जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, इसका संचालक है।

इस प्रकार शरीर ही वह क्षेत्र है जिसमें लड़ाई हुई। इसमें धर्म एक क्षेत्र है, कुरु एक क्षेत्र है। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र- मनुष्य में जब धृष्टता आ जाती है तो वह देखते हुए भी नहीं देखता और जिनके हृदय में धृष्टता का राष्ट्र ही बसा हो उसे देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए धृतराष्ट्र अन्धा है। अज्ञान मोह को जन्म देता है। मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दुःशासन, विजातीय कर्मरूपी कर्ण, विकल्परूपी विकर्ण, भ्रमरूपी भीष्म, द्वैत का आचरणरूपी द्रोणाचार्य, आसक्तिरूपी अश्वत्थामा और संशयरूपी शकुनि इत्यादि सभी आसुरी सम्पद् हैं। कुरुक्षेत्र- 'कुरु' अर्थात् करो! आज करते हो और अनन्त सृष्टि तक करते जाओ। इन्हीं के बीच जीवरूपी विदुर फँसा है। जो है तो कौरवों की ओर किन्तु उसकी सीधी दृष्टि पाण्डवों पर है।

दूसरी ओर है धर्मक्षेत्र, जिसमें पुण्यरूपी पाण्डु है, कर्तव्यरूपी कुन्ती है। जब तक पुण्य साथ नहीं देता, तब तक मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ भी करता है, उसके बन्धन का कारण होता है, क्योंकि पुण्य जागृत हुए बिना कर्तव्य-अकर्तव्य का निदान नहीं हो पाता। इसलिए पाण्डु से साहचर्य के पूर्व कुन्ती ने जो कुछ पैदा किया वह था कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लड़ता रहा। पाण्डवों या दैवी सम्पद् के लिए सबसे बड़ा घातक यदि कोई था तो वह था कर्ण। पुण्य जागृत होते ही धर्मरूपी युधिष्ठिर, भावरूपी भीम, अनुरागरूपी अर्जुन, नियमरूपी नकुल, सत्संगरूपी सहदेव का आविर्भाव हो जाता है। जहाँ सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण आत्मा से जागृत होकर शरीररूपी रथ

के सारथी बनकर साधक का पथ-संचालन करने लगते हैं। वे हजारों मील दूर रहें किन्तु जागृति के पश्चात् साधक के इतना समीप रहते हैं जितना हाथ, पाँव, नाक इत्यादि; बल्कि इससे भी समीप, क्योंकि वे तो आत्मा में ही संचारित होते हैं।

यही है धर्म का क्षेत्र, और वह परमधर्म परमात्मा ही है। श्रीकृष्ण कहते हैं, ''यह आत्मा ही परमसत्य, सनातन और शाश्वत है।'' ब्रह्म की भी तो यही परिभाषा है। आत्मा अशोष्य है, अकाट्य है तो ब्रह्म की भी यही उपाधि है। तात्पर्य यह है कि दर्शन के पश्चात् आत्मा ही परमात्मा से अभिन्न हो जाती है; किन्तु आत्मा को इस स्वरूप में सबने नहीं केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अतः उस परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति ही धर्मक्षेत्र है। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। जो इसका पार पा लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। वह इसमें फँसा नहीं बल्कि इसका संचालक है। वह आपके अन्दर भी संचालन-क्रिया पैदा कर सकता है और स्वयं तो पूर्ण है ही।

इस प्रकार इसी शरीररूपी क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ अनादि हैं- एक दैवी सम्पद् और दूसरी आसुरी सम्पद्। इन्हीं को क्रमशः विद्या और अविद्या, कुरुक्षेत्र अर्थात् दूषित रूखवाला क्षेत्र और धर्मक्षेत्र अर्थात् परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला क्षेत्र कहकर सम्बोधित किया गया। वस्तुतः शरीर ही एक क्षेत्र है। जब इसमें बहिर्मुखी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तब यही क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाता है। इसी शरीर में जब परम धर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति सबल हो उठती है तो यही शरीररूपी क्षेत्र उस धर्म से संयुक्त हो जाता है, तब यही धर्मक्षेत्र कहलाता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का प्रारम्भिक जीवन! व्यक्ति वही है लेकिन सत्पुरुष का साथ हुआ, साधना किया तो **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'** *(मानस, २/१९३/८)* ब्रह्म के समानान्तर स्थितिवाले हो गये।

यह मन है तो अन्धा! अज्ञान से आच्छादित रहता है। (अज्ञान भी मन

का एक स्तर है) अतः अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र! धृतराष्ट्र है तो अन्धा किन्तु संयमरूपी संजय के माध्यम से वह देखता और समझता है। अज्ञान इसका सहज (स्वभाव) है। इसलिए पूर्तिपर्यन्त मन में संस्कार मात्र भी जीवित है, इसकी दृष्टि सदैव कुरुक्षेत्र की ओर रहेगी। अयुक्त मन को एक ही इन्द्रिय घसीट कर पतित कर देती है- **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** ***(मैत्रायण्युपनिषद, ४/११)*** अतः पूर्तिपर्यन्त खतरा है-

हम जाने मन मर गया, मरा हो गया भूत।
मरते ही पुनि उठि लगा, ऐसा मना कपूत।।

'देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा।' ***(मानस, १/८५/८)*** की उक्ति चरितार्थ होती है, ऐसा यह शत्रु है। इसलिए वह अन्धा अन्त तक दुर्योधन का पक्ष लेता रह गया। जबकि भली प्रकार जानता था कि पाण्डव सत्य पर हैं।

सैन्य निरीक्षण- सैन्य निरीक्षण भी युद्धस्थल के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्भासित करता है। कौरवों की सेना ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डव-पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना थी। दोनों पक्षों को मिलाने पर यह गणना साढ़े छः अरब के लगभग होती है। प्रायः उतनी, जितनी आज विश्व की जनसंख्या है। इतनी जनसंख्या कुरुक्षेत्र के सीमित मैदान में कट गयी, जानकर आश्चर्य होता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में ठीक ऐसा ही है। कौरव-पक्ष में दस इन्द्रियाँ और एक मन यही ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। अक्ष दृष्टि को कहते हैं। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टिकोण से जिसका संचालन है वही है कुरुक्षेत्र, अविद्या की पार्टी। मन और इन्द्रियाँ यदि अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख हैं तो मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दुःशासन, काम, क्रोध, मद, लोभादि आसुरी प्रवृत्तियाँ रहेंगी ही। यही वह कुरुक्षेत्र है, इसी को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। दूसरी ओर योग की सात भूमिकामयी दृष्टिकोण से जिसका गठन है वह है धर्मक्षेत्र, जिसमें अनुरागरूपी अर्जुन, कर्तव्यरूपी कुन्ती, भावरूपी भीम, धर्मरूपी युधिष्ठिर, सत्संग, नियम इत्यादि हैं। इन

सबके मूल में हैं सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण जो आत्मा से जागृत होकर रथी के रूप में पथ-संचालन करते हैं। इस प्रकार यह दैवी सम्पद् भी अनन्त है। दो दृष्टियों से सेनाओं का मूल्यांकन शास्त्रकार ने किया है, न कि वहाँ आमने-सामने कहीं कोई योद्धा खड़ा था।

वीरों का स्वरूप- इस क्षेत्र में स्थित वीरों का स्वरूप भी आध्यात्मिक ही है। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व दुर्योधन ने द्रोण से कहा कि अपने शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गयी पाण्डवों की सेना को देखिये! इन लोगों की यह सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है जबकि हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है, जिसमें समितिंजय, कृपाचार्य इत्यादि हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डवों को जीत सकते हैं। वस्तुतः कृपा का आचरण ही कृपाचार्य है। इष्ट और साधक के बीच यदि सूत भर भी अन्तर है तो साधक को कृपा का एक आचरण ही पराभूत कर देगा। **'दया बिनु सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।।'** सीताजी न दया करतीं, न लंका में भोगना पड़ता। लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व साधक कृपा के आचरण में उलझा तो कृपाचार्य समितिंजय बन जायेंगे, पूरी दैवी सम्पद् पर विजय पा लेंगे। प्राप्ति के पश्चात् कृपा तो योगी का सहज स्वरूप है किन्तु अधूरी अवस्था में कृपा भी खतरा है।

उत्साहवर्धन करते हुए दुर्योधन ने निर्देश दिया कि भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है, अतः आपलोग सभी मोर्चों पर भली प्रकार रहते हुए भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। दुर्योधन संकेत करता है कि यदि भीष्म चले गये तो फिर हमलोगों के पास कोई अन्य चारा नहीं है। अतः भीष्म कौन-सी सत्ता है जिस पर समग्र कौरव समूह निर्भर है कि 'आप सब युद्ध न करें बल्कि भीष्म की रक्षा करें।'? वस्तुतः भ्रम ही भीष्म है। जब तक हमारे आपके भीतर भ्रम विद्यमान है, विकार अजेय हैं। जहाँ भ्रम का निदान हुआ तहाँ बन्धनकारक कर्म भी समाप्त हो जायेगा, मोह भी समूल नष्ट हो जायेगा।

भीष्म की एक विशेषता उनकी इच्छा-मृत्यु थी। **'इच्छा काया इच्छा**

माया, इच्छा जग उपजाया। कह कबीर जे इच्छा विवर्जित भ्रम नहीं तहँ भरमाया।।' इच्छा ही काया और इच्छा ही माया है। इच्छा ने ही जगत् की उत्पत्ति की है। जब तक इच्छा है तब तक भ्रम तो जीवित रहेगा ही। इच्छा का अन्त नहीं दिखता, किन्तु एक बिन्दु ऐसा भी है जहाँ जाकर इच्छा समाप्त हो जाती है, और वह बिन्दु है- भगवत्प्राप्ति की इच्छा। भगवान अलग हैं और हम अलग हैं तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक है। किन्तु उनके प्राप्त होने पर उनसे श्रेष्ठ कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता, ऐसी अवस्था में वह इच्छा, वह भ्रम निर्मूल हो जाता है। यह भीष्म की इच्छा-मृत्यु का रहस्य था। प्राप्ति के साथ ही इच्छा सर्वथा निर्मूल हो जाती है।

भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे थे। सुरा की ऊर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। इंगला-पिंगला जिनमें क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य का निवास है, ऐसी सांस की गति सुरा है। वही जब प्रकृति से उपराम होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, ईश्वर में प्रवाहित होने लगती है, उस स्थिति में भीष्म सदा-सदा के लिए मर जाता है; क्योंकि भगवान में भ्रम तो होता ही नहीं।

दूसरी ओर दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है। भावरूपी भीम! भीम था तो सबसे बलवान्, किन्तु वह वृकोदर था। उसका स्थान था उदर। आज भरा है तो कल खाली। भाव का निवास भी तो हृदय ही रहता है। भाव सबसे शक्तिशाली भी है। **'भावे विद्यते देवा।'**- यदि भाव हो तो वह परमदेव परमात्मा भी विदित हो जाता है। **'भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।'** *(मानस, ७/९२)*- भाव में वह महान् शक्ति है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। अब इससे बड़ी कौन-सी शक्ति होगी? साथ ही यह इतना नाजुक है कि आज भाव है तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। साधारण विघ्नों का धक्का लगते ही भाव मिट जाता है। इसलिए दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित यह सेना जीतने में सुगम है।

दोनों पक्षों की शंखध्वनि- तत्पश्चात् दोनों पक्षों की शंखध्वनियाँ हुईं जिससे युद्धक्षेत्र की अलौकिकता की पुष्टि होती है। शंखध्वनि का तात्पर्य अपने लक्ष्य का उद्घोष करना है कि यदि हम सफल हुए तो क्या कर दिखायेंगे, कौन-सी सुख-सुविधा देंगे? कौरवों की ओर से एक ही शंखध्वनि होती है। पितामह भीष्म ने सिंहनाद के समान गरजकर शंख बजाया। जंगल से आप गुजरें और खुले में शेर की गर्जना सुनाई पड़ जाय तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे। सिंह भय का प्रतीक है। भय प्रकृति में है, भगवान में नहीं। अतः भ्रमरूपी भीष्म यदि सफल होता है तो भय की और भी गहरी पर्तों पर आपको खड़ा कर देगा। संसार में तो आप पहले से हैं ही, जिसमें भय-ही-भय है। भ्रम के प्रबल होते ही आप भय से और भी अधिक प्रभावित हो जायेंगे। इससे आगे कौरवों की गति नहीं है। माया के हजार बन्धन हैं तो लाख हो जायेंगे, अनन्त हो जायेंगे, भय की और ही मात्रा बढ़ती जायेगी। इसके आगे कौरवों की और कोई घोषणा नहीं है। फिर कौरवों की ओर से कई बाजे बजे, नगाड़े बजे; किन्तु शंखध्वनि नहीं हुई।

तदनन्तर पाण्डवों की ओर से शंखध्वनियाँ हुईं। **'पाञ्चजन्यं हृषीकेशो'**- अलौकिक रथ (वह लौकिक रथ भी नहीं था कि चार पहियों या चार घोड़ों वाला रहा हो) में बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया। इन्द्रियों की पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, जो प्रारम्भ में विकृत थीं) को 'जन' की श्रेणी में नियुक्त कर देना अन्तर्यामी सद्गुरु पर निर्भर करता है। सद्गुरु आत्मा से जागृत होकर इन पाँचों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमित कर उन्हें जन की स्थिति में ढाल देता है, उन्हें सेवक बना देता है। इन्द्रियाँ बाधक नहीं, सहयोगिनी बन जाती हैं। यह स्थिति सद्गुरु-कृपा की ही देन है। श्रीकृष्ण भी परम का स्पर्श कर परम भाव में स्थित महायागेश्वर हैं, सद्गुरु है। अर्जुन प्रणत होता है, **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'** *(गीता, २/७)*- भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, धर्म के विषय में मोहित मैं आपकी शरण हूँ। वही उपदेश कीजिए जिससे मैं

कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। निःसन्देह अर्जुन एक शिष्य है और योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु के स्थान पर हैं।

'देवदत्तं धनञ्जयः'– अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। 'अनुरागरूपी अर्जुन।' यदि तीव्र अनुराग है तो साधक दैवी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, जो परमदेव परमात्मा में विलय करानेवाली है इसीलिए अर्जुन का एक नाम धनंजय भी है। **'पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।'** ***(गीता, १/१५)***– वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। भाव सफल होता है तो इष्ट में प्रीति और प्रवृत्ति होती है। यही पौण्ड्र है।

नकुल ने सुघोष नामक शंख बजाया। नियमरूपी नकुल। ज्यों-ज्यों आप नियम में प्रवृत्त होते जायेंगे, अशुभ का शमन और शुभ घोषित होता जायेगा। इसी प्रकार सहदेव ने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाया। सत्संगरूपी सहदेव! महर्षियों ने प्रत्येक श्वास को मणि की संज्ञा दी है- **'तेरी हीरा जैसी स्वाँस, बातों में बीती जाय रे।'** पत्थर की मणि तो कठोर होती है जो बाहर मिलती है लेकिन यह श्वासरूपी मणि कुसुम सदृश कोमल है। आज है तो कल के लिए निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। सांस टूट गयी तो सदा के लिए चली जाती है इसलिए बहुमूल्य है। अतः एक भी श्वास इष्ट के नाम से खाली न जाय। श्वास-प्रश्वास में गमन की क्षमता आ जाय, 'रिनक-धिनक धुनि अपने से उठे' तो एक-एक श्वास मणि की श्रेणी में आ जाता है। श्वास-प्रश्वास की यह क्रिया सत्संग द्वारा जागृत हो जाती है और एक भी श्वास व्यर्थ न जाय, यह सत्संग पर निर्भर करता है। यदि सत्संग कामयाब होने लगता है तो उस मणि पर, श्वास-प्रश्वास पर अधिकार दिला देता है।

'अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।' (गीता, १/१६)– 'युधि स्थिरः सः युधिष्ठिरः।' इस आत्मिक संघर्ष में वही स्थिर रह पाते हैं जिनके अन्तःकरण में धर्म का संचार हो अतः धर्मरूपी युधिष्ठिर। परमधर्म परमात्मा ही है। धैर्यपूर्वक अभ्यास करते-करते साधक जब परमधर्म का स्पर्श पा जाता है अर्थात् धर्म जब हृदय में प्रवाहित हो जाता है, तो **'अनन्तविजयम्'**–

उस अनन्त, अखण्ड, व्यापक ब्रह्म में स्थिति मिल जाती है, विजय हो जाती है। यह असम्भव से सम्भव हो जाता है।

लीजिए! कहीं 'अनन्तविजय', कहीं 'देवदत्त', कहीं 'पौण्ड्र', कहीं 'पांचजन्य' जैसे शंख बज रहे हैं और स्वयं ग्रन्थकार का कहना है कि सभी शंख, सभी घोषणाएँ दिव्य हैं, अलौकिक हैं, लौकिक नहीं। संसार के प्रति इनकी दृष्टि है ही नहीं। अब आप ही बताइए कि यह कैसा युद्ध-क्षेत्र है?

अर्जुन-विषाद- युद्धस्थल में अर्जुन ने कहा- भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। मैं देख तो लूँ कि किन-किन से लड़ना है? श्रीकृष्ण ने रथ को बीच में खड़ा किया तो अर्जुन काँपने लगा। उसे पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और सुहृद् दिखाई पड़े। अठारह अक्षौहिणी सेना में अर्जुन को पिता का परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पड़ा। क्या सब-के-सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? नहीं, वस्तुतः भगवत्पथ में चराचर जगत् ही युद्ध के रूप में उपस्थित है। अतः यह कहना असम्भव है कि संख्या-प्रमाण क्या है? दो दृष्टियों से सेना का विभाजन मात्र है। इसमें अर्जुन ने अपने परिवार और हितैषियों को ही खड़ा पाया। सबसे पहले अर्जुन ने उन्हें देखा और व्यग्र हो उठा। देखिए, अनुरागरूपी अर्जुन। अनुरागी जब इष्ट के पथ पर अग्रसर होता है तो पारिवारिक आसक्ति उसके समक्ष विकराल रूप लिये आती है। पूज्य परमहंसजी कहते थे, ''मरब और साधू होब बराबर है।'' मरना और साधू होना बराबर है। संसार में और कोई जीवित है भी किन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं, कभी नहीं। यदि कुछ भी आसक्ति बनी है तो उसका कल्याण नहीं होता, जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए इतना बड़ा प्रतिबन्ध है। मन से विस्मरण करना और मरना एक-जैसी ही बात है। सांसारिक बन्धन मन की कल्पना मात्र है। इन सम्बन्धों का विस्मरण भी मरण ही है। चेतनारहित होने पर सभी सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। अतः साधक के लिए लौकिक स्नेह-सम्बन्धों का विस्मरण ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार साधक के समक्ष सर्वप्रथम यह समस्या रहती है कि अबोध बच्चों, मामा का परिवार, चाचा का परिवार, सगे-सम्बन्धियों का त्याग कैसे किया जाय? इनके प्रति भी तो कुछ धर्म होता है। इनका पालन-पोषण भी तो कर्तव्य है। यही तो सनातन कुलधर्म है। धर्म के नाम पर प्रायः ऐसी कुरीतियाँ सदा ही पनपती रही हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ तथा अद्यावधि ऐसी ही भ्रान्ति है कि स्पर्श करने या उनका एक ग्रास चावल खाने से, एक घूँट पानी पीने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। ऐसी ही एक कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। वह भी इन्हीं की दुहाई देने लगा कि अपने ही परिवार का क्षय करने से वह कुलक्षय के दोष का भागी बनेगा और इस प्रकार सनातन-धर्म भी नष्ट हो जायेगा। वह यह नहीं कहता कि मैं ही भूल कर रहा हूँ बल्कि कहता है कि हमलोग महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं अर्थात् श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाता है कि वह भी पाप करने जा रहे हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन इस विषम स्थल में तुझे अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? विषम अर्थात् जिसकी समता का कोई स्थल है ही नहीं। जिस युद्ध की बात मैं कर रहा हूँ उसके समानान्तर कोई युद्धक्षेत्र ही नहीं है। कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, यह अज्ञान की बात कैसी, क्यों? अर्जुन सनातन धर्म के लिए विकल था। क्या सनातन-धर्म की रक्षा की बात करना अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- हाँ, अज्ञान ही है। न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इसका कभी आचरण किया गया, न संसार में कीर्ति बढ़ानेवाला है और न तो यह परमकल्याण ही करनेवाला है। सम्भावित पुरुषों ने जिसका आचरण नहीं किया, सिद्ध है कि वह अज्ञान ही है।

अर्जुन ने समर्पण कर दिया कि भगवन्! धर्म के विषय में मैं मूढ़चित्त हूँ। मैंने सुना है कि यही धर्म है। सत्य क्या है, मैं नहीं जानता। जो सत्य हो उसे आप मेरे प्रति कहिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। पृथ्वी अथवा त्रिलोकी के धन- धान्यसम्पन्न साम्राज्य के लिए भी मैं युद्ध नहीं

करना चाहता। क्योंकि देवताओं का स्वामी होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले इस शोक को दूर कर सके। इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु हो तो आप उसे मेरे प्रति कहिए। विलक्षण था वह युद्धक्षेत्र, जो भौतिक उपलब्धियों के लिए नहीं वरन् उससे भी श्रेष्ठ स्थिति के लिए आपका आह्वान करता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि सत्य वस्तु का तीनों काल में अभाव नहीं है और असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अर्जुन! यह आत्मा ही परमसत्य है, यही सनातन है। अग्नि इसे जला नहीं सकती, वायु इसे सुखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता। शरीर के मरने पर भी यह मरता नहीं। यह अजर, अमर, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है और यही सनातन है। भौतिक क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाला कोई पदार्थ जिसका स्पर्श भी नहीं कर पाता, उसका नाम सनातन है, तो केवल खाने-खिलाने से, एक घूँट पानी पीने से वह सनातन नष्ट कैसे होगा? हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है, वह भ्रष्ट नहीं हो सकता। ऐसी ही शंकाओं का निराकरण श्रीकृष्ण ने गीतोक्त कुरुक्षेत्र में किया था और ऐसा ही था वह युद्धस्थल, जिसमें विकारों से लड़कर सनातन एवं अव्यय स्थिति की प्राप्ति का मार्ग सद्गुरु श्रीकृष्ण ने अनुरागी अर्जुन को बताया; केवल बताया ही नहीं, उस पर चला भी दिया।

प्रश्न- महाराजजी! कुरुक्षेत्र को आप विजातीय पार्टी कहते हैं लेकिन उस कुरुक्षेत्र में तो कौरव और पाण्डव दोनों ही सेनाएँ एकत्र हुई थीं।

उत्तर- कौन कहता है कि आध्यात्मिक कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाएँ एकत्र हुईं। ग्रन्थकार कहते हैं **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'**- धर्मक्षेत्र में और कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छावाले एकत्र हुए थे; इसे क्यों नहीं याद रखते? धर्म एक क्षेत्र है, कुरु एक अलग क्षेत्र है।

प्रश्न- क्या महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है?

उत्तर– ऐसी बात नहीं है कि महाभारत युद्ध नहीं हुआ। युद्ध अवश्य हुआ। महापुरुषों ने उस संघर्ष को दृष्टान्त बनाकर उसी के माध्यम से हृदय-देश में प्रकृति और पुरुष के बीच के संघर्ष का चित्रण किया। घटना घटी न होती तो उदाहरण कहाँ से आते? महाभारत, गीता इत्यादि मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं। श्लिष्ट एवं यौगिक शब्दों में लिखे गये इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक रहस्य अनुस्यूत हैं जिनपर चलकर विश्व का कोई भी मानव परमकल्याण की अनुभूति कर सकता है। यही मानव-तन की चरम उपलब्धि भी है।

वस्तुतः प्रत्येक शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से हुआ करती है। तत्त्वज्ञ मनीषियों का यही चिरन्तन विधान रहा है। शास्त्रों की संरचना में उनके दो अभिप्राय रहे हैं, एक तो इतिहास को जीवित रखना, जिससे भावी पीढ़ी को संसार में जीवनयापन का मर्यादित मार्गदर्शन मिल सके। पिता-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता, सुहृद, मित्र तथा पूज्य गुरुजनों के प्रति आदर्श व्यवहार का प्रशिक्षण इन शास्त्रों के माध्यम से प्रदान करना मनीषियों का प्राथमिक लक्ष्य रहा है, किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे कल्याण की भूमिका अवश्य तैयार होती है किन्तु इतने से ही वह परमकल्याण सम्भव नहीं जो परमतत्त्व की उपलब्धि से होता है। आत्मिक पथ को प्रशस्त करना, यौगिक प्रक्रिया का सम्यक् जागरण कराना तथा उस पर मानव-मात्र को चलाना शास्त्र-रचना का दूसरा मूल हेतु है। इस पहलू के निरूपण में उस घटित घटना को महापुरुष उदाहरण के लिए ले लेते हैं, जिसे साधक सरलता से हृदयंगम कर लेता है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञ मनीषियों ने रोचक और भयानक कथानकों के बीच-बीच में यथार्थ का भी संकेत किया जिससे अधिकारी उसे ग्रहण कर सकें और उस पर चलकर जन्म-मृत्यु की असह्य यातनाओं से छुटकारा पाकर परमश्रेय को प्राप्त कर सकें।

।। ॐ ।।

९. गीतोक्त युद्ध

दुनिया में लोग लड़ते ही रहते हैं, किन्तु शाश्वत विजय और शान्ति जीतनेवाले को भी नहीं मिलती। त्रैलोक्य विजय का स्वप्न देखनेवाले नरेश भी इस संसार से अधूरी आशाएँ लेकर गये, इसीलिए भगवान ने गीता में एक ऐसे युद्ध से परिचय कराया जिसमें यदि एक बार विजय हो गयी तो शाश्वत विजय है जिसके पीछे हार नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् असीम शान्ति है, जिसके पीछे कभी अशान्ति नहीं है। यह प्रत्येक मानव के, हमारे-आपके अन्त:करण की लड़ाई है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है, प्रकृति और पुरुष की लड़ाई है। इसमें संघर्ष तो साधक को करना पड़ता है किन्तु उसके द्वारा जो विजय होती है, वह भगवान की देन होती है। **'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन'**– अर्जुन! तू निमित्तमात्र बनकर खड़ा रह, कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ। कभी-कभी साधक उपलब्धियों को अपना बल मान लेता है, किन्तु समर्पित साधक का वह भ्रम भी दूर करके भगवान उसे साधना के प्रशस्त पथ पर चला देते हैं।

धरा-धाम का परित्याग करते समय भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन की अन्तिम परीक्षा ली। उन्हें एक बहेलिये का बाण लग चुका था। घबड़ाया हुआ अर्जुन वहाँ पहुँचा। भगवान बोले– अर्जुन! पैरों में बड़ी पीड़ा है, बाण तो निकाल। अर्जुन ने कहा– नहीं भगवन्! ऐसा करने से आपके प्राणों पर संकट आ जायेगा। भगवान ने दर्द से कराहते हुए कहा– हमें ज्ञात नहीं था कि तुम भी मुझसे विमुख हो जाओगे। हमने आजीवन तुमलोगों को कहाँ-कहाँ नहीं बचाया! महाभारत युद्ध में भीष्म के दिव्यास्त्रों से बचाया, कर्ण के भीषण बाणों से तुम्हारी रक्षा की; और तुम एक कील भी नहीं निकाल पा रहे हो। तुमसे हमें ऐसी आशा नहीं थी। अर्जुन आजीवन आज्ञाकारी सेवक था। ज्यों ही उसने बाण निकाला, भगवान की आँखें झपकने लगीं।

अर्जुन ने कहा– प्रभो! यह क्या? श्रीकृष्ण बोले– अर्जुन! इस पृथ्वी पर मेरा कार्यकाल पूर्ण हो गया, अब मुझे जाना होगा। अर्जुन ने रोते हुए पूछा– प्रभो! कोई सेवा? भगवान बोले– अर्जुन! सेवा तो है लेकिन पूर्ण होती दिखाई नहीं देती। अर्जुन ने कहा– ऐसी कौन सी सेवा है, भगवन्! आप बतायें तो सही! श्रीकृष्ण बोले– अर्जुन! मेरे शरीर त्यागते ही यह द्वारिका समुद्र में डूब जायेगी, पृथ्वी पर दस्युओं का बोलबाला हो जायेगा, वे कहीं तुम्हें लूट न लें, बस यही चिन्ता है। इसलिए रनिवास की रानियों और बचे हुए नागरिकों को लेकर शीघ्रतापूर्वक यहाँ से बाहर निकल जाओ। सबको हस्तिनापुर पहुँचा दो। मार्ग में कोल-भील तुम्हें लूट न लें, सावधान रहना।

अर्जुन ने सोचा– मरते समय सबकी बुद्धि लड़खड़ा जाती है, प्रतीत होता है कि भगवान भी अब गये काम से। गाण्डीवधारी अर्जुन का नाम सुनते ही बड़ी-बड़ी चतुरंगिणी सेनायें भी अपना रास्ता बदल देती हैं तो लोहे की कील लेकर शिकार करनेवाले साधारण भील हमें कैसे लूट लेंगे? उसने कहा– भगवन्! आप निश्चिन्त रहें। भगवान् ने करुण दृष्टि से उसे देखा और कहा– तुमसे हमको इसी उत्तर की अपेक्षा थी।

बिलखते हुए अर्जुन ने द्वारिका पहुँचकर भगवान का संदेश सुनाया, सबको द्वारका छोड़ने के लिए प्रार्थना की। वृद्धजनों ने कहा कि जब सब मर गये तो अब हमारी चिन्ता छोड़ो। वे नहीं निकले। इतने में ज्वार आ गया। जो नहीं निकले थे, जलप्लावन में डूब गये। खिन्न अर्जुन रनिवास की महिलाओं को लेकर चला तो मार्ग में कोल-भीलों की दृष्टि पड़ गयी। वृद्ध सरदार झपकी ले रहे थे। युवकों ने कहा– दादाजी को उठाओ, मालदार यात्रियों की बहुत लम्बी टोली जा रही है, ढेर सारी औरतें हैं। हमारी सात पीढ़ियों के भोजन-पानी के लिए पर्याप्त उनके शरीर पर आभूषण लटक रहे हैं। सरदार की अनुमति पाते ही सभी कोल-भील टोली पर टूट पड़े। चीखने-चिल्लाने की आवाज से अर्जुन को होश आया तो देखा वहाँ

सचमुच ही लूट मची थी। वह गाण्डीव की प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा। अत्यन्त कठिनाई से वह किसी प्रकार प्रत्यंचा तो चढ़ा ले गया, किन्तु दिव्यास्त्रों का स्मरण नहीं रहा। उसने कहा– कौन है जो गाण्डीवधारी द्रोणशिष्य अर्जुन से मुकाबला करना चाहता है? इस पर कोल-भीलों ने कहा– अच्छा, एक हिजड़ा भी साथ में है, मारो इसे। थोड़े ही लोगों को वह बचा पाया–

तुलसी नर को का बड़ो, समय बड़ो बलवान।
भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान।।

साधारण कोल-भीलों ने दुर्जय योद्धा अर्जुन को अनायास पराजित कर दिया; उस अर्जुन को जिसने उन निवात कवच असुरों को हरा दिया था जिन्हें देवलोक की सारी सेना नहीं हरा पाती थी। उसके दिव्यास्त्र धरे के धरे रह गये।

समय शून्य में नहीं फलता। जब भगवान साथ में हैं तो समय भी हमारा साथ देता है। भगवान साथ में नहीं हैं तो वही दुर्दिन है, कुघड़ी है, कुसमय है–

तदैव लग्नं सुदिनं तदैव, ताराबलं चन्द्रबलं तदैव।
विद्याबलं दैवबलं तदैव, लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि।।

वही शुभ घड़ी है जब लक्ष्मीकांत भगवान का वरदहस्त आपके साथ हो। अर्जुन जब तक भगवान की छत्रछाया में था, सभी दिन शुभ था और जहाँ उसने कहा–'लगता है भगवान की बुद्धि भी लड़खड़ा गयी', उसके दुर्दिन आ गये, अशुभ समय ने उसे चारो ओर से घेर लिया। तुलसीदासजी कहते हैं–

जोग नखत ग्रह वारि तिथि तुलसी गनत न काहिं।
राम दाहिने जाहि जब सबै दाहिने ताहिं।।

योग, नक्षत्र, ग्रह, वार, तिथि पर आधारित पञ्चांग की गणना को तुलसी मान्यता नहीं देते। परमात्मा राम जब हमारे अनुकूल हैं, तो सभी

दाहिने हैं, सभी शुभ हैं। कोई कुग्रह होता ही नहीं, कुसंस्कार भी प्रभावहीन हो जाते हैं। स्वल्प भूल के कारण अर्जुन लुट गया– **'प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।' (मानस, १/५९/८)** इसलिए अन्तःकरण का युद्ध उसके पक्ष में होता है जो प्रभु के प्रति समर्पित होकर साधना में प्रवृत्त होता है। वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई में सदैव उत्तीर्ण होता है। ईश्वर-पथ के इस गीतोक्त युद्ध में साधना-जागृति के पश्चात् बीज का कभी नाश नहीं होता। ईश्वर को धारण करने का नाम धर्म है और धर्मपथ पर दो कदम चल भर दें, भजन जागृत हो गया तो धर्म अपरिवर्तनशील है। वह न खाने से नष्ट होता है, न पीने से; बल्कि उस साधन के प्रभाव से वह प्रत्येक जन्म में साधन वहीं से करने लगता है जहाँ से पिछले जन्म में छूटा था और कुछेक जन्मों के अन्तराल से वह वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परम गति है, परम धाम है।

इसी युद्ध का वर्णन गीता में स्थान-स्थान पर है, आइये देखें–

प्रश्न– महाराजजी! गीता में युद्ध का स्वरूप क्या है?

उत्तर– देखिये, देश-विदेश में जहाँ जिसने गीता का नाम भी सुना है वह इतना अवश्य ही सोच लेता है कि गीता महाभारत-युद्ध की प्रवेशिका मात्र है। इतना ही नहीं, गीता का नाम लेते ही मानव-मन युद्ध की ओर चला जाता है। परन्तु शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि पर विचार करें तो यह अकाट्य निर्णय है कि यह बाह्य युद्ध नहीं अपितु अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियों का संघर्ष है, इसलिए गीता योगशास्त्र है। सम्पूर्ण गीता में भौतिक संघर्ष अथवा मारकाट का एक भी सूत्र नहीं है।

१– अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। अठारह अक्षौहिणी में अपने ही परिवार, सुहृद् और गुरुजनों को देखकर वह युद्ध से कतराने लगा। सनातन-धर्म और कुलधर्म की दुहाई देने लगा। तब भगवान श्रीकृष्ण ने

कहा- अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों की तरह वचन कहता भर है। परन्तु पण्डित लोग जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए, और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते; क्योंकि आत्मा न तो मरता है, न किसी को मारता है। कौन्तेय! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर हैं। इसलिए अर्जुन! तू उनको सहन कर।

क्यों? क्या हिमालय की लड़ाई थी जो अर्जुन सर्दी सहन करता? अथवा क्या रेगिस्तान की लड़ाई थी जो गर्मी सहन करता? कुरुक्षेत्र तो एक समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन ही तो लड़ाई हुई। श्रीकृष्ण ऐसा निर्देश क्यों देते हैं? वस्तुतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है। सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी इनका सहन करना एक योगी पर निर्भर करता है। अतः योग की प्रवेशिका वालों के लिये ही इसका विधान है।

२- तदनन्तर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत्य का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। यह आत्मा ही परमसत्य है और शरीर नाशवान् है, इसीलिए तू युद्ध कर। तो क्या पाण्डव-पक्ष के शरीर अविनाशी थे? वे भी तो शरीरधारी थे। इससे यह तो निश्चित नहीं होता कि अर्जुन केवल कौरवों को मारे, पाण्डवों को नहीं। जिधर भी शरीर दिखायी पड़े, उधर ही मारना चाहिए था। फिर, जब शरीर नाशवान् है, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है तो श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े थे? अर्जुन कौन था? क्या कोई पिण्डधारी था? श्रीकृष्ण की ही मान्यता है कि नाशवान् शरीर के लिए श्रम करनेवाले यथार्थ नहीं जानते। इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु वृथा ही जीते हैं। अतः यदि श्रीकृष्ण किसी की शरीर-रक्षा के लिए खड़े थे तब तो वे भी अविवेकी, पापायु और व्यर्थ जीनेवाले सिद्ध होंगे; क्योंकि शरीर को तो रोका नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट है कि गीता सांसारिक युद्ध से सम्बन्धित नहीं है।

पुनः काटने से क्या शरीर कट जायेगा? टहनियों के काटने से क्या वृक्ष सूख जायेगा? असम्भव! वस्तुतः जो जिसको जितना दबाता है, बदले में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। यह शरीर भी जन्म-जन्मान्तरों में चुकाया जानेवाला बदला है। शस्त्र से काटने मात्र से शरीर-क्रम के समाप्ति की सम्भावना नहीं है; क्योंकि शरीर संस्कारों पर निर्भर है। अतः शरीर का सर्वथा अन्त तभी होगा जब जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का अवसान होगा। तभी इस शरीर और आत्मा का सदा-सदा के लिए विच्छेद होता है। संस्कारों में जो कुछ भी है, संकल्पों में उभड़कर आता है। अतएव जिन महापुरुषों ने संकल्प-विकल्प की गति का निरोध कर लिया उन्होंने मन के सर्वथा निरोध के साथ ही अन्तःकरण में परमतत्त्व, शाश्वत, सनातन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पा लिया। **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'** उन पुरुषों द्वारा सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व का और संसार जीतने का क्या सम्बन्ध है? जिसने संसार जीत लिया वह रुका कहाँ? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी उत्थान करते-करते इतना निरुद्ध हुआ कि निर्दोष और समत्व की स्थितिवाला हो गया, अतः **'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।'** *(गीता, ५/१९)* वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी अवस्था में शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए टूटता है, इसके पूर्व कभी नहीं। अतः शरीर का वास्तविक नाश चिन्तन-भजन पर निर्भर करता है, न कि तलवार द्वारा काटने पर।

३- अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया कि अर्जुन! सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होनेवाले सनकादि चारों ऋषि मैं ही हूँ, सूर्य में प्रकाश मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ। इसी प्रकार विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा- अर्जुन! मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, अनन्त

हैं। तुम्हें बहुत जानने से क्या प्रयोजन? जितनी भी ऐश्वर्ययुक्त वस्तुएँ हैं, उन्हें मेरे ही अंश से उत्पन्न जान। जुए में छल से जीतनेवालों की विजय मैं हूँ। यदि यह साधारण जुआ है तब तो भगवत्प्राप्ति के साधनों में इसे भी गिना जाता क्योंकि जीतने पर भगवान मिलते; किन्तु सम्पत्ति चाहे जो मिल जाय, जुए से भगवान मिलते किसी को दिखायी नहीं पड़े। वास्तव में प्रकृति ही एक जुआ है, धोखे का एक आवरण है। विवेक-वैराग्य से, सतत लगनपूर्ण साधना से ब्रह्मज्ञ पुरुषों के संरक्षण में जो भी प्रकृति पर विजय पा लेता है उसी की विजय सच्ची विजय है। इसी विजय के अन्त में भगवान रहते हैं, न कि साधारण जुए के अन्त में। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने कहा, मैं सबमें व्याप्त हूँ।

इसे सुनकर ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा, ''भगवन्! आपने जो कुछ कहा सर्वथा सत्य है, मैं मानता हूँ। इसे सुनकर मेरा अज्ञान, मोह नष्ट हो गया।'' क्या वस्तुतः अर्जुन का मोह नष्ट हो गया था? क्योंकि इसी के ठीक पश्चात् भगवान के विराट् स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन गिड़गिड़ाने लगा। कहीं ज्ञानी को भय होता है? अर्जुन को अभी तक कोरी सैद्धान्तिक जानकारी ही थी। अर्जुन भी इस बात को जानता था। अतः उसने प्रार्थना की- भगवन्! जैसा आपने बताया है, बल, ऐश्वर्य और विभूतियों से परिपूर्ण आपके उस स्वरूप को मैं देखना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त और अनन्य सखा अर्जुन से कहा- ले, तू मेरे उसी स्वरूप को देख। अब आकाश से पाताल तक सर्वत्र फैले हुए मेरे तेज को देख! मेरे ही अन्तर्गत आदित्यों, वसुओं और अश्विनीकुमारों को देख! मरुद्गणों को देख! चराचरसहित सम्पूर्ण विश्व को मेरे अन्तराल में एक ही स्थान पर खड़ा देख! इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक दिखाते चले गये लेकिन अर्जुन आँखें मलता ही रह गया। तब सहसा भगवान रुक जाते हैं। कहते हैं- अर्जुन! तू मुझे इन आँखों से नहीं देख

सकता (क्योंकि भगवान तो अगोचर हैं, मन-बुद्धि से सर्वथा परे हैं।) अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ कि तुम मुझे देख सको। भगवान तो सामने खड़े ही थे। अर्जुन ने देखा। सहस्रों (अनन्त) सूर्य से भी अधिक उनके तेज को देखा। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ा। अर्जुन को दिग्-भ्रम हो आया (क्योंकि सूर्य से तो ही दिशा का बोध होता है)। वह बोला- भगवन्! आपका यह असह्य तेज देखकर मैं दिशाओं को भी नहीं जान पा रहा हूँ- 'दिशो न जाने'। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से आपको जानते हैं। आप जिसे जना दें वही आपको जान पाता है। वस्तुतः भगवान जिस भक्त को बताना चाहते हैं उसके अन्तराल में स्वयं दृष्टि बनकर सामने स्वयं खड़े हो जाते हैं। केवल वही देख पाता है, अन्य कोई नहीं।

अर्जुन ने बताया- आपके अन्तर्गत मैं चराचर जगत् को स्थित देखता हूँ। रुद्र, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय सभी आपके अन्तराल में स्थित हैं। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण सबके सब बड़े वेग के साथ आपके भयानक मुखों में चूर्ण होते जा रहे हैं। न मैं आपके आदि को देख पाता हूँ, न अन्त को ही देख पाता हूँ और न मध्य का ही निर्णय कर पाता हूँ। रोमांचित हो गया, धनुष गिर गया। प्रार्थना करने लगा- ''भगवन्! भोजन अथवा शयन के समय, एकान्त अथवा सखाओं के बीच मैंने कभी आपको 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे!'-ऐसा कुछ कह दिया था, उन त्रुटियों को आप क्षमा करें।''

छोटी-छोटी बातों के लिए अर्जुन क्षमा-याचना करने लगा। कभी 'कृष्ण' अर्थात् काला कह दिया था। क्या कृष्ण कहना भी कोई अपराध है? कृष्ण का रंग साँवला था ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी कोई अपराध नहीं था; क्योंकि यदुवंश में श्रीकृष्ण ने जन्म ही लिया था। और कहा भी क्या जाता? सखा कह देना भी अपराध नहीं था क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं

अर्जुन को सखा कहकर सम्बोधित करते थे; किन्तु जब अर्जुन ने उनके प्रभाव को देखा तो उन क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। उसने देखा कि श्रीकृष्ण न तो काले हैं, न गोरे हैं, न यादव हैं और न सखा ही, बल्कि यह तो परात्पर ब्रह्म अव्यक्त सत्ता हैं। जिस पर दया करते हैं उसी को दिखाई पड़ते हैं। इधर दृष्टि बनकर खड़े हो जाते हैं उधर स्वयं रहते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण को तत्त्वतः देखा।

भगवान बोले, ''अर्जुन! मेरे स्वरूप को जैसा तूने देखा है वैसा तेरे सिवाय **'न दृष्टपूर्वम्'**- न तो कोई पहले देख पाया है और न कोई भविष्य में देख सकेगा।'' तब तो गीता हम सबके लिए व्यर्थ है; क्योंकि भगवान को देखने की योग्यता केवल अर्जुन तक सीमित रह गयी। स्वयं श्रीकृष्ण पहले बता आये हैं कि इसी कर्म को करके बहुत से मनीषी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं- **'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।'** *(गीता, ४/१०)*। यहाँ ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मेरे स्वरूप को पूर्व में तेरे अतिरिक्त न कोई देख पाया, न भविष्य में कोई देख सकेगा। अन्ततः श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं? अर्जुन कौन था? 'अनुरागरूपी अर्जुन!' अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। कहना न होगा कि भगवान अनुरागी को ही मिलते हैं- **'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ज्ञान बिरागा।।'** *(मानस, ७/६१/१)*

इष्ट के अनुरूप राग अनुराग है और अनुरागी ही अर्जुन है। अनुरागविहीन न तो पहले ही किसी ने भगवान को प्राप्त किया और न भविष्य में ही कभी कोई प्राप्त कर सकेगा। भगवान **'अनुरागिन के उर बसैं, उदासीन के शीश।'**

४- इतना ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति का उपाय भी बताया-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। *(गीता, ११/५५)*

अर्जुन! जो मेरे द्वारा निर्धारित कर्म करता है, मेरे परायण होकर कर्म करता है, किन्तु **'संगवर्जितः'**- संगदोष के रहते इस कर्म को नहीं किया जा सकता; अतः संगदोष से अलग रहकर जो कर्म करता है, जो सम्पूर्ण भूत-प्राणियों से सर्वथा वैरभाव से रहित है, वही मुझे देख सकता है, जैसा तूने देखा है। संगदोष से रहित होकर नितान्त एकान्त में अर्जुन किससे लड़ता? फिर यदि अर्जुन लड़ता तो वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख पाता। यदि वह प्रण करके जयद्रथ या कर्ण को मारता है तो 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' की भगवद् आज्ञा का तिरस्कार करता है। किन्तु अर्जुन लड़ता है। बिना वैर के लड़ाई कैसी? इस प्रकार गीता में एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो बाह्य मारकाट का समर्थन करता हो। वस्तुतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है।

५- अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण ने बताया- अर्जुन! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक तो देवों-जैसा और दूसरा असुरों-जैसा। अभय, अन्तःकरण की स्वच्छता, इन्द्रियों का दमन, आर्जव, क्षमा, दया, अद्रोह, निरन्तर चिन्तन, वास्तविक जानकारी इत्यादि छब्बीस लक्षण दैवी सम्पद् के गिनाये, जो सब-के- सब किसी पहुँचे हुए महापुरुष में ही सम्भव हैं। आंशिक रूप से आप में, हममें भी हो सकते हैं। इसी तरह दम्भ, दर्प, मात्सर्य, काम, क्रोध, लोभ तथा मोह इत्यादि आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त मनुष्य अनन्त आशा, अनन्त तृष्णा एवं अपरिमेय चिन्ताओं से युक्त रहता है। वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन है, भविष्य में इतना हो जायेगा। मैं ही ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। स्त्री-पुरुष के संयोग से जो कुछ उपलब्ध है, मात्र इतना ही सत्य है, आगे ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। ''आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है जबकि दैवी सम्पद् परमकल्याण और शाश्वत स्थिति के लिए होती है। अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है, तू मुझमें निवास करेगा।'' सुधीजनों से कहने की

आवश्यकता नहीं है कि दैवी सम्पदा की सभी योग्यताएँ ईश्वरोन्मुख साधकों के लिए है, न कि किसी सांसारिक योद्धा के लिए।

इसी क्रम में श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष विचार करता है, ''वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रु भी भविष्य में मेरे द्वारा मारे जायेंगे।''- ऐसा सोचनेवाला अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाला है। उस आत्मा और मुझ परमात्मा के बीच प्रकृति की परतें पड़ती जाती हैं, वह मुझ परमात्मा से दूर हो जाता है। ऐसे क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार अधोगति और नीच योनियों में ही गिराता हूँ।'' इतनी स्पष्ट चेतावनी सुनकर भी क्या अर्जुन लड़ता? यदि अर्जुन प्रण करके जयद्रथादि किसी को लड़ाई में मारता तो वह भी अधोगति और नीच योनियों का पात्र होता। फिर तो आसुरी योनियों में जाना चाहिए था, जबकि भगवान स्वयं कहते हैं- ''अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा।'' अर्जुन यदि लड़ता तो परमकल्याण को न पाता, भगवान को न पाता। खुले हुए नरक का द्वार देखकर भी क्या कोई लड़ेगा? कभी नहीं। मूर्ख भले ही लड़े किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण का शिष्य तो कभी नहीं लड़ेगा। अतः पूरी गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो बाह्य मारकाट का समर्थन करे। संसार में झगड़े होते रहते हैं लेकिन उनमें जो जीतता है विजय उसकी भी नहीं होती। जब शरीर ही नाशवान् है तो शरीर के उपभोग की वस्तु कब तक साथ देगी? संसार में होनेवाली लड़ाई तो बदले हैं जिसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार चुकाये जाते हैं। वास्तविक युद्ध तो अंतःकरण की लड़ाई है जिसे एक बार जीत लेने पर पुनः हारने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

६- अध्याय आठ में श्रीकृष्ण ने कहा--''अर्जुन! प्रयाणकाल में मनुष्य जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है प्रायः उसी भाव को प्राप्त होता है और जो पुरुष अन्तकाल में मेरा चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।'' तब तो बड़ा सस्ता

सौदा है। जन्म भर मौज करें, मस्ती काटें, जब मरने लगेंगे तो भगवान का स्मरण कर लेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं ऐसा हो ही नहीं सकता। उस समय स्मृति भ्रमित रहती है, बुद्धि विकल रहती है। नवीन विचार आ ही नहीं सकते। आजीवन जिस भाव का अभ्यास रहता है, अन्तकाल में भी वही चिन्तन अनायास खड़ा हो जाता है। अतः अर्जुन! तू आज से ही मेरा चिन्तन कर। कल तो कभी आता ही नहीं। यदि करना है तो आज से ही कर और युद्ध भी कर।

अब निरन्तर चिन्तन और युद्ध कैसे सम्भव है? हो सकता है कि हम डण्डा फेंकते रहें; वाण चलाते रहें और 'जय कन्हैया लाल की', 'जय भगवान की' कहते जायँ। किन्तु नहीं; इस प्रकार के चिन्तन से काम नहीं चलेगा। उस चिन्तन का विधान भी स्वयं श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में स्पष्ट करते हैं- **'अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।'** *(गीता, ८/८)*- अर्जुन! उस चिन्तन का विधान है कि परम वैराग्य में स्थिर होकर, संगदोष से अलग रहकर, एकान्त-देश का सेवन करते हुए, इन्द्रियों को विषयों से भली प्रकार समेटकर, चित्त को सब ओर से खींचकर मुझमें लगा। सिवाय मेरे किसी दूसरे विषय-वस्तु का चिन्तन न करते हुए मेरा निरन्तर चिन्तन कर।" इस प्रकार भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चिन्तन न आये। यदि आता है तो भजन नहीं है। एकान्त-देश में जहाँ साधक के अतिरिक्त कोई नहीं है, युद्ध किससे होगा? पुनः चिन्तन की विधि इतनी सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का स्मरण तक न हो। मान लीजिए, आपके सामने रखी वस्तु ही श्रीकृष्ण है तो उसके सिवाय पृथ्वी, गिलास, पुस्तक, प्रकृति क्षेत्र की कोई भी वस्तु ध्यान में आ जाय तो चिन्तन नहीं है। जब चिन्तन इतना सूक्ष्म है तो युद्ध कैसे होगा? जिसकी आँखें बन्द हैं, दृष्टि स्थिर है, चित्त को सब ओर से समेटकर जिसने इष्ट में लगा रखा है, वह लड़ेगा कैसे? साधारण लड़ाई में तो शत्रु की गतिविधि क्षण-क्षण पर परखते

रहते हैं। ध्यानस्थ व्यक्ति युद्ध किस प्रकार करेगा? अतः गीता सांसारिक युद्ध का उद्बोधन नहीं है।

वस्तुतः जब साधक चिन्तन में अग्रसर होता है, चित्त को सब ओर से समेटकर इष्ट में निरुद्ध करने लगता है तो मायिक प्रवृत्तियाँ बाधा के रूप में प्रत्यक्ष हैं। मन उड़ने लगता है। इन मायिक प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। वास्तविक युद्ध तो इस आध्यात्मिक क्रिया में ही है इसीलिए अर्जुन प्रश्न उठाता है- भगवन्! इस मन को मैं वायु से भी तेज चलनेवाला पाता हूँ। इसका रुकना तो असम्भव ही है। श्रीकृष्ण उसे उत्साहित करते हैं, **'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।'** अर्जुन! इसमें कोई संशय नहीं कि मन बड़ा दुर्जय एवं चंचल है। बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है; किन्तु **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।'** *(गीता, ६/३५)*- अभ्यास और वैराग्य द्वारा अयुक्त मन को भी निरुद्ध किया जा सकता है। मन को एक स्थान पर बार-बार सब ओर से समेटने का नाम अभ्यास है और वैराग्य का आशय है- देखी और सुनी विषय-वस्तुओं के राग का सर्वथा त्याग। जहाँ भी चित्त जाय, वहाँ से समेटकर इष्ट में लगाने का नाम ही अभ्यास है। दीर्घकाल तक अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह मन शनैः- शनैः निरुद्ध होते-होते सर्वथा रुक जाता है। अतः अर्जुन! तू अभ्यास कर। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने चिन्तन का जो स्वरूप बताया उसके लिए वैराग्य और अभ्यास ही एकमात्र माध्यम है, जिसमें चित्त को सब ओर से समेटकर केवल इष्ट में लगाना होता है।

इसी रहस्य की ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण गीता के तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक में कहते हैं- अर्जुन! **'अध्यात्मचेतसा'**- ध्यानस्थ चित्त से **'युध्यस्व'**- युद्ध कर। यदि चित्त ध्यान की ओर उन्मुख है, आँखें बन्द हैं, सुरत की डोर लग रही है तो युद्ध किससे होगा? किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- युद्ध कर। वस्तुतः सुरत की डोर लगाते समय जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार

उभरकर सामने आते हैं। संग-दोषजनित वर्तमान का दोष, यहाँ तक कि कुछ क्षण पूर्व का टकराव भी दृश्य बनकर सामने आता है। इन विजातीय संकल्पों का पार पाना ही युद्ध है अन्यथा जिसका चित्त ध्यान में केन्द्रित है वह भला किससे लड़ेगा?

७- इसी सन्दर्भ में उन शत्रुओं पर भी विचार कर लिया जाय जिनसे लड़ना है। तीसरे अध्याय में अर्जुन ने पूछा- भगवन्! जो कुछ आप कहते हैं, यदि वह सत्य है, फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? श्रीकृष्ण ने बताया, **'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।'** *(गीता, ३/३७)*- अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही इस रास्ते के महान् शत्रु हैं। ये ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करनेवाले तथा ज्ञानियों के निरन्तर शत्रु हैं। इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन इनके निवास-स्थान हैं। इसलिए भरतर्षभ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके कामरूपी इस दुर्जय शत्रु को मार। जब शत्रु अन्दर है तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? अतः यह अन्तःकरण की लड़ाई है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है। अंतःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परमकल्याण करनेवाली है तो दूसरी अधोगति की ओर ले जानेवाली है। जब साधक चिन्तन द्वारा दैवी सम्पद् की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इसका पार पाना ही युद्ध है।

८- शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि संसार ही एक शत्रु है। **ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। *(गीता, १५/१)***- संसार पीपल का एक वृक्ष है। जिसमें ऊपर परमात्मा ही मूल है, नीचे प्रकृति ही शाखाएँ हैं। यह अविनाशी भी है। जो इसे जानता है वह वेद के तत्त्व का ज्ञाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। *(गीता, १५/२)*

अर्जुन! इस संसार-वृक्ष की तीनों गुणरूपी जल के द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ, विषय-भोगरूपी कोपलें देव, मनुष्य और तिर्यक् योनियों में सर्वत्र फैली हुई हैं। अन्य योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है। इसीलिए देवता भी मानव-तन से आशावान् हैं। अतः मानव-तन अति दुर्लभ है। इस मानव-योनि में कर्मों के अनुसार बाँध लेनेवाली अहम् और ममतारूपी जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। अतः इस संसाररूपी शत्रु को असंगतारूपी शस्त्र से काट! यहाँ संसार ही एक शत्रु है।

६- छठें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन! यह आत्मा ही अपना शत्रु और मित्र है, विश्व में और कोई शत्रु या मित्र नहीं है। जिस पुरुष द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और अधम योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः अर्जुन! तू अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार कर। यहाँ काम, क्रोध, संगदोष, संसार तथा इन्द्रियों के अधीन रहनेवाली आत्मा को भी शत्रु कहा गया है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या राज्य हड़पनेवाले को शत्रु नहीं कहा गया। जब शत्रुओं का यही स्वरूप है तो कोई बाहर किसी से क्यों लड़ेगा? जब शत्रु घर में है तो बाहरवालों से लड़ना कौन-सी बुद्धिमानी है?

दुनिया में झगड़े होते रहते हैं। आज जीते तो कल हारे! विश्व-विजय का सपना देखनेवाला सिकन्दर भी आहें भरता रह गया। संसार नश्वर है। यदि इतने के लिए ही कोई सिर पीटता है तो सिद्ध है कि वह अविवेक से आवृत्त है। जो स्वयं नश्वर है, उसमें हम ढूँढ़ क्या रहे हैं? वहाँ विजय कहाँ? वास्तविक युद्ध इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में है जिसमें एक बार विजय पा लेने

पर पुनः कभी हार नहीं होती। इस प्रक्रिया में मन के निरोध के साथ ही संसार के संस्कारों का निरोध हो जाता है। मनसहित इन्द्रियों के निरोध होते ही आत्मा अनुकूल और विदित हो जाती है। उस दिग्दर्शन के साथ ही जीवात्मा उस परमतत्त्व में प्रवेश पा जाती है (विलीन हो जाती है) जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यह ऐसी विजय है जिसके पीछे कभी हार नहीं होती।

क्रमशः साधना के सही दौर में पड़कर अनुभवी महापुरुष के संसर्ग और कृपाप्रसाद से जब हृदय में यौगिक क्रिया जागृत हो गयी, वे प्रेरक अभिन्न होकर, आत्मा से रथी बनकर रथ-संचालन करने लगें तो क्रमशः चलाते-चलाते, प्रकृति की भँवर से निकालते हुए साधक को अपने समकक्ष उसी स्थान पर खड़ा कर देंगे जहाँ से फिर पीछे लौटकर जीवात्मा आवागमन में नहीं आती। यह ऐसी विजय है, जिसके पश्चात् काल, कर्म और प्रकृति पर विजय मिल जाती है। साधक पुरुषत्व में चेतन का प्रतिबिम्ब पा लेता है। फिर तो काल, कर्म और प्रकृति उस पुरुषत्व में विलीन हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर साधक स्वयं कल्याणस्वरूप, एकरस, अविनाशी, अव्यक्त और स्रष्टा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। यही इस आध्यात्मिक युद्ध का परिणाम है। इस प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने निर्णय पाया कि **'ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'** ***(ईशा.उप. मन्त्र 1)***– सर्वत्र ईश्वर का वास है। दूसरे शब्दों में, किंचिन्मात्र भी जगत् है ही नहीं, तो कोई नष्ट कहाँ होगा? गड्ढा है ही नहीं तो कोई गिरेगा किसमें? अतः पूर्णता प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन का विधान नहीं है। यही शाश्वत विजय है। वास्तव में गीता अन्तःकरण की लड़ाई है। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद् कल्याण के लिए है तो आसुरी सम्पद् नीच योनियों में ले जानेवाली होती है। साधक जब परमतत्त्व की ओर, विद्या की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष होती है। इन प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। बाहरी मार-काट गीता का अभीष्ट नहीं है। ।। ॐ ।।

१०. सनातन-धर्म (हिन्दू-धर्म)

गीता में भगवान ने बताया कि आत्मा ही सत्य है, शाश्वत है, ज्योतिर्मय है, सनातन है। भगवान ने अर्जुन को यह ज्ञान महाभारत युद्ध के आरम्भ में दिया, किन्तु स्वयं तो बाल्यकाल से ही इसका प्रशिक्षण देते आ रहे थे।

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में कथा है कि ग्वालबालों के साथ एक बार भगवान श्रीकृष्ण काली कमली लटकाये, बाँसुरी बजाते, लकुटी लिये, मोरपंख लगाये गो-चारण से लौट रहे थे। उन्होंने देखा कि सबके घरों में बड़ी सजावट है। कन्हैया ने पूछा– मैया! इतनी फूल-मालाएँ और इतनी दूध-दही की मटकी – ये सब क्या है? यशोदा ने कहा– लल्ला! आज इन्द्र की पूजा है। श्रीकृष्ण ने कहा– मैया! इन्द्र हमें क्या देता-लेता है? हम क्यों इन्द्र की पूजा करें? पूजा ही करनी है तो करो इस गोवर्धन पहाड़ की, जहाँ हमारी गायें चरती हैं। उसकी तलहटी में यमुनाजी बहती हैं, गायें उसका पानी पीती हैं। वहाँ विशाल वृक्ष हैं जिनमें झूले लटक रहे हैं। हम सभी साथी वहीं खेलते हैं। यह इन्द्र इत्यादि देवताओं से हमें क्या लेना-देना? यशोदा ने कहा– बेटा! यह हमारी परम्परा है। इन्द्र बड़ा बलशाली है। वह हमारे गोकुल और वृन्दावन में प्रलय मचा देगा। श्रीकृष्ण ने कहा– देखो मैया! जो पूजा भय से की जाती है, उसका नाम बेगार है। आज से यह अनावश्यक पूजा हुई तो मैं माखन नहीं खाऊँगा। नन्द बाबा बोल पड़े कि देखो भाइयो! अब तो इन्द्र-पूजा नहीं होगी, मेरा कन्हैया रूठ गया है। उन्होंने कहा– बोल कन्हैया! किसकी पूजा करें? श्रीकृष्ण बोले– बाबा, इस गोवर्धन पहाड़ की!

अब छकड़े भर-भर पूजन-सामग्री और नैवेद्य पर्वत की तलहटी की ओर जाने लगे। कन्हैया ने बाँसुरी बजायी, सब ग्वाल-बाल गोधन छोड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुँच गये, बोले– आज खाने-पीने का प्रबन्ध किधर है?

श्रीकृष्ण ने बताया– गोवर्धन पहाड़ की तलहटी में। ग्वाल-बाल वहाँ पहुँचकर सब मक्खन-मलाई खा गये, दूध पी गये और मटकियाँ फोड़ दी। (लगता है, बेचारे कुम्हारों की रोजी-रोटी की व्यवस्था के लिए वे मटकियाँ फोड़ते रहे होंगे कि ये फूट जायेंगी तो फिर बनायेंगे।)

पूजा बन्द होने से इन्द्र वास्तव में नाराज हो गया। मूसलाधार वृष्टि होने लगी, बिजली कड़कने लगी, छकड़े तैरने लगे। गोकुल में जलस्रोत उमड़ पड़ा। छप्पर पानी में डूब चले। सब गोप दौड़कर नन्द बाबा को उलाहना देने लगे कि आप पुत्रमोह में पड़ गये। अब न तो गोकुल रहेगा, न ग्वाल और न गायें ही रहेंगी। इधर ग्वाल-बाल भी श्रीकृष्ण के पास एकत्र हो गये। कहने लगे– कन्हैया, अब क्या करें? श्रीकृष्ण ने कहा– जब से तुमलोगों ने होश सँभाला है, दूध-दही-मलाई-मक्खन से नीचे कभी भोजन किया है क्या? देखते क्या हो, यह ताकत किस दिन काम आयेगी! उठा लो पहाड़! लगाओ कन्धा! श्रीकृष्ण ने भी एक उँगली लगायी। पर्वत उठ गया। सात दिन तक मूसलाधार वृष्टि और वज्रपात होता रहा। जब लड़के कुछ ढीले पड़ते तो श्रीकृष्ण भी उँगली थोड़ा नीचे कर देते। फिर सभी दाँत पीसकर जोर लगाकर पर्वत को ऊपर कर देते। लड़कों को पूरा विश्वास हो गया था कि गोवर्धन को हमलोगों ने ही उठा रखा है। वे बोले– कन्हैया! चिन्ता मत करना, हमलोग इसे गिरने नहीं देंगे; लेकिन अपनी उँगली लगाये रखना।

आँठवें दिन बृहस्पति ने कहा– देवेन्द्र! लगता है तुम्हारा समय पूरा हो गया है। तुमने अभी तक पहचाना नहीं, यह साक्षात् नारायण हैं। शीघ्र जाओ, उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगो। इन्द्र 'त्राहि माम् शरणागतम्' कहते हुए आया, चरणों में गिर पड़ा, कहा– प्रभो! मैं पहले आपको पहचान नहीं पाया, इसीलिए धृष्टता हो गयी। भगवान ने कहा– हमने तुमको राजा इसलिए बनाया कि जनता की सेवा कर; तू अपनी पूजा कब

से कराने लगा, तू भगवान कब से बन बैठा? ऐसा भी क्या हो गया कि पूजा करो तो ठीक, और न करो तो प्रलय मचा दो? मार ही डालोगे सबको! इन्द्र ने कहा– प्रभो! मुझसे महान भूल हो गयी। भविष्य में ऐसी गलती कभी नहीं होगी, क्षमा करें। भगवान ने क्षमा किया। आश्वस्त होने पर इन्द्र ने कहा– प्रभो! मेरा भी एक पुत्र है – देवी कुन्ती से उत्पन्न अर्जुन! आप उसकी रक्षा कीजियेगा। श्रीकृष्ण ने कहा– ठीक है, देवेन्द्र! आज से अर्जुन मेरी सुरक्षा में है। तुम निश्चिन्त हो जाओ। किन्तु इन्द्र निश्चिन्त नहीं हुआ। जब महाभारत युद्ध छिड़ा तो वह ब्राह्मण बनकर लगा कर्ण से भीख माँगने। कर्ण ने कहा– विप्रवर! आपकी क्या इच्छा है? इन्द्र बोले– मैं साधारण ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे तुम्हारा कवच-कुण्डल चाहिए। कर्ण ने उन्हें पुन: प्रणाम किया। इन्द्र ने पूछा कि दूसरी बार प्रणाम किसलिए? कर्ण ने कहा– पहला प्रणाम ब्राह्मण के लिए, और दूसरा देवराज इन्द्र के लिए है। इन्द्र बोले– तुम मुझे पहचानते हो? कर्ण ने बताया– अच्छी तरह! सूर्यदेव ने मुझे बताया था कि इन्द्र ब्राह्मण वेश में आयेगा, कवच-कुण्डल माँगेगा, उसे मत देना। किन्तु देवेन्द्र! पूजा के समय तो कोई मेरे प्राण माँग ले, मैं उसको भी दे दूँगा और आपने मुझसे मेरा प्राण ही माँगा है क्योंकि कवच-कुण्डल के होते हुए मैं अवध्य हूँ, मारा नहीं जा सकता; और आपने वही मुझसे माँगा है। आप चिन्ता न करें, आपको मिलेगा। उसने सीना छीलकर कवच और कानों से कुण्डल देवराज के हाथों पर रख दिया। इन्द्र का चेहरा उतर गया। कहाँ देवराज इन्द्र और कहाँ एक संसारी व्यक्ति के सामने भिखारी बनकर खड़ा है! इन्द्र हतप्रभ हो गया। उसने कहा– कर्ण! तुम भी मुझसे कुछ माँग लो। कर्ण ने कहा– देवेन्द्र! मुझे देना आता है, माँगना नहीं। अन्य कोई सेवा हो तो बताइए।

इन्द्र ने कहा– कर्ण! यदि तुम मुझसे कुछ ले लेते तो मेरी प्रतिष्ठा रह जाती कि कर्ण ने भी माँगा और इन्द्र ने दिया। कर्ण ने कहा– लो! एक

वस्तु आपने और माँग ली कि मेरी प्रतिष्ठा रखो। ठीक है, देना ही चाहते हैं तो आप अपनी अमोघ शक्ति दे दीजिए। इन्द्र के चेहरे पर पसीना आ गया क्योंकि शक्ति तो अमोघ थी। इन्द्र ने कहा– कर्ण! तुम उसका प्रयोग एक बार ही कर सकोगे, दूसरी बार नहीं। वह शक्ति प्रयोग के पश्चात् मेरे पास पुन: लौट आयेगी। कर्ण ने कहा– आप निश्चिन्त रहें, दो बार हमें प्रयोग करना भी नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण भी इस दृश्य को देख रहे थे, उनसे क्या छिपा था! उन्होंने सोचा– इस मोही पिता को देखो! अर्जुन को मुझे सौंपकर भी ब्राह्मण बनकर भीख माँग रहा है। अर्जुन तो भगवान की छत्रछाया में सुरक्षित था ही। इस दान को लेकर उसने अर्जुन को पुन: मौत के मुँह में ढकेल दिया। जब तक वह शक्ति घटोत्कच पर चल नहीं गयी, तब तक भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को कर्ण से दूर ही रखा।

इस प्रकार देवताओं का राजा इन्द्र, उसके अधीनस्थ तैंतीस करोड़ देवता, इन देवताओं की पूजा, कंस का कृत्रिम यज्ञ, जरासंध का नरमेध यज्ञ इत्यादि यज्ञों और पुजाओं को भगवान श्रीकृष्ण ने बन्द करवाया। इनकी नश्वरता का लोगों को बोध कराया और जो आततायी शक्तियाँ समझाने से भी नहीं समझ रही थीं, महाभारत युद्ध में उनका अन्त करवाया। उन्होंने समाज को एक धर्मशास्त्र गीता प्रदान किया जिसमें है कि धर्म क्या है?; एक परमात्मा ही सत्य है, शाश्वत है, सनातन है; उसे प्राप्त करने की नियत विधि यज्ञ है; उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म, और उस कर्म को क्रियान्वित करना ही धर्म है, आपका दायित्व है। इसके अतिरिक्त सृष्टि में कोई धर्म नहीं है और यह धर्म अपरिवर्तनशील है। गोस्वामीजी ने इसी का अनुवाद किया है–

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता।।

(मानस, ७/१२६/१-२)

वही सर्वज्ञ है, यथार्थ जाननेवाला है, विशेषज्ञ है, गुणी और ज्ञाता है, पण्डित और दानदाता है, कौन? राम– एक परमात्मा के चरणों में जिसका मन अनुरक्त हो गया है। बस, इतना ही है धर्म! जब एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्त्व है ही नहीं, भगवान ने गीता में अर्जुन को यहीं उपदेश दिया कि विधाता और उनसे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है, केवल आत्मा ही सत्य है, सनातन है, केवल उसी का अस्तित्व है; तो आप देवताओं को पूजकर ही क्या करेंगे? भगवान ने अर्जुन को गीता में यही बताया, देखें–

प्रश्न– महाराजजी! आजकल हिन्दू-धर्म में अनेक रूढ़ियाँ, अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। सभी अपने को सनातनधर्मी कहते हैं। कृपया बताया जाय कि सनातन धर्म क्या है?

उत्तर– धर्म में समय-समय पर भ्रान्तियाँ पनप जाया करती हैं। सनातन-धर्म के नाम पर भी पनपती आयी हैं; किन्तु उन युगों में भी ऐसे महापुरुष होते आये हैं जो उस दलदल से समाज को निकालकर प्रशस्त पथ पर खड़ा कर देते हैं। भगवान राम ने यही किया। श्रीकृष्ण ने यही किया। बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, नानक, तुलसी इत्यादि सभी ने यही किया। आज भी कुछ रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, भले ही उनका स्वरूप कुछ दूसरा है।

आज भी अधिकांशतः तथाकथित सनातनधर्मी नहीं जानते कि वस्तुतः सनातन-धर्म है क्या? देखा जाता है कि कोई पीपल की पूजा करता है, कहता है- यही सनातन-धर्म है। भूतों की पूजा भी सनातन-धर्म, देवी-देवताओं की पूजा भी सनातन-धर्म, तीर्थों की पूजा भी सनातन-धर्म मानी जाती है। यहाँ तक कि तैंतीस करोड़ देवताओं की गणना किसी समय हुई थी और अब भी वे पनपते, बढ़ते जा रहे हैं। भुइयाँ रानी, सन्तोषी माँ-जैसी देवियों का सृजन होता जा रहा है। चित्रकूट क्षेत्र में लोमड़ी के बिल की पूजा होती है। एक विशेष पर्व पर कोल-भील उसकी पूजा करते हैं। मजीरा लेकर बिल

के चारों ओर नाचते-कूदते गाते हैं- **'लोहखरी के बिल से निकली भवानी माय, लपलप डोभरी खाय हो माय!'** अर्थात् लोमड़ी के बिल से भवानी निकलेगी और जो नैवेद्य (उबला हुआ महुआ) हम अर्पित करेंगे, वह लपलप सेवन करेगी और बदले में हम लोगों के कल्याण का साधन जुटायेगी।

इसी प्रकार नाग-पूजा, बैल-पूजा, हाथी-पूजा तथा कुत्ते की भी पूजा होती है। तुकाराम नामक एक मस्त महात्मा थे। एक बार उन्होंने भगवान को भोग लगाने के लिए भोजन तैयार किया। इतने में एक कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। तुकाराम ने सोचा कि भगवान का भोग कुत्ता नहीं खा सकता। सिद्ध है कि भगवान ही कुत्ते का रूप धारण करके आये हैं। बस, घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ पड़े कि- महाराज! रोटी सूखी है। आपके गले उतरेगी कैसे? घी तो लगा देने दें। भावावेश में वे दौड़ते रहे। वही तुकाराम अच्छे सन्त हुए। लोगों ने पूछा-महाराज! रोटी कौन ले गया? तुकाराम बोले- विट्ठल भगवान ले गये। उसी दिन से कुत्ते की पूजा आरम्भ हो गयी। यह पूजन उन्होंने चलाया नहीं था, वे तो अपने भावावेश में थे।

इसी तरह गुरु गोविन्द सिंह ने परिस्थितियों से बाध्य होकर एक बाज पाला, जो इस बात का प्रतीक था कि जैसे एक बाज पक्षियों के झुण्ड पर टूट पड़ता है वैसे ही प्रत्येक को बहादुर बनना चाहिए। केवल इस प्रेरणा के लिए उन्होंने बाज को माध्यम बनाया था। उनके पश्चात् अब सिख जहाँ बाज देख लेते हैं, उसके सम्मान की भावना उनमें उभर आती है। इस प्रकार महापुरुषों की नकल से भी अनेक रूढ़ियाँ पनप जाया करती हैं।

प्रारम्भ में शास्त्रार्थ और दिग्विजय ही विद्वता का प्रमाणपत्र था। शास्त्र तो नपे-तुले हैं, उनपर कितना विवाद हो? शास्त्र के श्लोक कम पड़ने लगे तो गढ़े जाने लगे। किसी ने पूछा कि ये श्लोक किस शास्त्र के हैं, तो उत्तर मिला कि ब्राह्मण विद्वान् स्वयं रचयिता हैं, हमने स्वयं बनाये। दिग्विजय उन्हें

मिली। श्लोक बनाने की परिपाटी ही चल निकली। मान्यताएँ बदलीं कि केवल वाणी के विवाद से क्या होता है? आचरण होना चाहिए। अतः शास्त्रार्थ के साथ किसी ने सूर्य को एकटक देखा, कोई एक टाँग पर खड़ा रहा, कोई काँटे पर सो रहा, दिग्विजय उन्हें मिली। तपस्या का वास्तविक रूप न जाने कितनी दूर छूट गया। चमत्कारों से रूढ़ियों को बल मिला।

शिक्षा के अभाव में भी भ्रान्तियाँ जुड़ती गयीं। उस समय स्त्रियों और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। वैश्यों को अधिकार तो था किन्तु चारों वर्णों की उदरपूर्ति के रोजगार से उन्हें अवकाश कहाँ? चारणों ने क्षत्रियों की झूठी प्रशंसा कर उन्हें अकर्मण्य बना दिया। सम्मान मिलता ही है तो क्यों पढ़ें? अतः शिक्षा-दीक्षा केवल ब्राह्मणों की वस्तु रह गयी। आज की तरह उनकी पढ़ाई की जाँच करनेवाला कोई बोर्ड भी नहीं था। मनुस्मृति का उल्लेख है कि ब्राह्मण को बासी नहीं खाना चाहिए; किन्तु खोवे से बनी वस्तु या घी से निर्मित पकवान को घी मिलाकर, तलकर खा सकते हैं। वाह! हम मालपुआ खायें और हमारी हजारों पीढ़ी मालपुआ छानें। उस समय उन्होंने अपने भावी विनाश को नहीं देखा; आज सभी अपना तेज भूल बैठे हैं। दोष उनका भी न था। स्वच्छन्द हो जाने पर ऐसी भूलें होती ही हैं। उस समय उनके स्थान पर जो भी जाति होती वह भी यही सब करती।

अरबवालों का भारत पर आक्रमण हुआ। हिन्दुओं का भोजन चल रहा था कि एक मुसलमान उधर से आ निकला। कुहराम मच गया कि एक यवन ने चौके में पाँव रख दिया। पण्डितजी ने निर्णय दिया कि धर्म तो नष्ट हो गया। वे लोग दस फुट की दूरी पर भोजन कर रहे थे लेकिन धर्म नष्ट हो गया। उनके राम-कृष्ण सदा के लिए परिलुप्त हो गये। वे या तो अल्लाह-अल्लाह कहने लगे या आत्महत्या करके मर गये। धर्म के लिए वे मर-मिटना जानते थे लेकिन यह नहीं जानते थे कि धर्म है क्या? धर्म तो हो गया छुईमुई। हम तो जहर से नष्ट होंगे, शस्त्र से नष्ट होंगे लेकिन धर्म पाँव रखने से नष्ट

हो गया। छुईमुई तो छू जाने पर मुरझाती है और हाथ हटाते ही पुनः विकसित हो जाती है; किन्तु यह धर्म बिना छुए ही नष्ट हो गया और ऐसा नष्ट हुआ कि कभी भी विकसित नहीं होगा।

हिन्दुओं की कमजोरियों से मुसलमान अवगत थे। उन्होंने पाया कि हिन्दुओं को मारने की आवश्यकता नहीं है। केवल इनकी कमजोरियों का अध्ययन करो और उन्हीं स्थलों का स्पर्श करो, वे स्वतः चींख-चिल्लाकर कहेंगे कि अब क्या करें? धर्म तो नष्ट हो गया! वे स्वतः मुसलमान होने को बाध्य हो जायेंगे; क्योंकि हिन्दू समाज फिर उन्हें स्थान नहीं देगा। हमीरपुर जिले में ऐसे ही पैंसठ गाँव मुसलमान हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी थे। हुआ क्या? तीन-चार मुसलमान योजनाबद्ध होकर अर्धरात्रि में गाँव के एकमात्र कुएँ के आसपास छिप गये। उन्होंने सोचा कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण यहाँ सबसे पहले स्नान करने आयेगा। आते ही पण्डितजी को उन्होंने पकड़ लिया। उनके सामने कुएँ का पानी खींचा, पीया और बचा पानी कुएँ में डाल दिया। पण्डितजी को दिखाकर रोटी का एक टुकड़ा भी उन्होंने कुएँ में डाला और पण्डितजी को अपने यहाँ ले जाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया। चौबीस घंटे पश्चात् उन लोगों ने पण्डितजी से पूछा, 'कुछ भोजन करेंगे?' पण्डितजी बोले, ''कैसी बात करते हो। मैं ब्राह्मण हूँ, तुम यवन हो। तुम्हारा भोजन मैं कैसे कर सकता हूँ?'' मुसलमानों ने पण्डितजी को छोड़ दिया। वे घबराये से गाँव में पहुँचे, पूछा-''कुएँ का पानी तो किसी ने नहीं पी लिया?'' लोगों ने कहा- ''एक ही कुआँ है, रोज यहीं से पीते हैं। आज क्या हो गया?'' पण्डितजी ने बताया- ''इस कुएँ की जगत पर यवन चढ़ गया। उसने पानी पीया, जूठा जल और रोटी का एक टुकड़ा भी मेरे सामने डाला। अब तो तुम सब धर्मभ्रष्ट हो गये। सनातन-धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं कि तुम शुद्ध हो सको।'' इस अप्रिय व्यवस्था को सुनकर बहुतों ने आत्महत्या कर ली; किन्तु गाँव-के-गाँव कितने लोग

आत्महत्या करते? बच्चे बड़े हुए तो उनसे कोई शादी-विवाह भी नहीं करना चाहता था। जीने के लिए कुछ तो करना ही था। विवश होकर मुसलमान बन गये। आज भी वे हल-मूसल-बाँस गाड़कर शादी-विवाह की रस्म अदा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि शादी के समय एक मौलवी आता है, कलमा पढ़कर चला जाता है।

इसी तरह बंगाल का एक युवक था। तत्कालीन प्रथा के अनुसार आचार्य के यहाँ से अध्ययन पूर्ण करके घर लौट रहा था। रास्ते में नवाब का महल पड़ा। नवाब के साथ उसकी पुत्री बाहर का दृश्य देख रही थी। लड़की ने कहा, ''अब्बाजान! जो युवक आ रहा है, उसके साथ मेरा निकाह करा दीजिए।'' नवाब ने पूछा, ''क्यों बेटी, तुम्हें वह पसन्द है?'' वह बोली, ''हाँ!'' स्वस्थ सुन्दर युवक! नवाब ने बुलवाया और कहा, ''हमारी लड़की से शादी कर लो।'' युवक बोला, ''ऐसा कैसे हो सकता है? मैं ब्राह्मण हूँ, तुम म्लेच्छ हो।'' युवक अकेला था। उसे कोठरी में बन्द कर दिया गया। युवक उस नवाब के यहाँ पानी भी नहीं पीता था। पानी पीने से धर्म नष्ट हो जाने का भय था। उपवास के नौवें दिन वह बेहोश हो गया। उसी बेहोशी में नवाब की लड़की ने फलों का रस पिलाया जिससे उसमें कुछ चेतना आ गई। युवक ने पूछा, ''तुमने कुछ खिलाया तो नहीं?'' लड़की ने कहा, ''मैंने केवल फलों का रस पिलाया है।'' युवक ने नाममात्र के लिए उससे निकाह किया और जान बचाकर वहाँ से भागा। युवक कश्मीर से कन्याकुमारी तक के धर्माचार्यों से मिला। अपनी समस्या रखी। तिथि-निर्धारित कर एक गोष्ठी काशी में बुलाई गयी। देश के कोने-कोने से हजारों विद्वान् एकत्र हुए।

युवक ने सबको सम्बोधित करते हुए प्रार्थना के स्वर में कहा, ''नवाब की लड़की ने धोखे से मुझे फलों का रस पिला दिया। मेरा दिल वही है, दिमाग वही है, रहन-सहन एवं आस्थाएँ सब कुछ पूर्ववत् हैं। मैं शुद्ध

सनातनी हूँ। आप सब मेरे गुरुदेव हैं। आपका उत्तम शिष्य रहा हूँ। सभी विद्याएँ मुझे उसी तरह याद हैं। मुझे यह कलंक न लगे कि मैं नष्ट हो गया।'' वेद-शास्त्र उलटे गये। निर्णय मिला कि अब सनातन-धर्म में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे तुम शुद्ध हो सको। युवक ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, ''आपलोग फिर से विचार कीजिए। मेरी आस्थाएँ वही हैं। मेरा कुछ भी बिगड़ा नहीं है। अनजाने में केवल फलों का रस पिलाया गया। मेरा कोई दोष नहीं है।'' तीन दिन तक पुनः शास्त्रार्थ चला और अन्ततोगत्वा वही निर्णय मिला कि अब सनातन-धर्म में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है। युवक प्रतिशोध की भावना लेकर गया और नवाब की लड़की को रख लिया। नवाब ने अपनी नवाबी भी उसे दे दी। वह विद्वान् युवक हिन्दुओं की कमजोरियों से पूर्णतः अवगत था ही अतः उसने आदेश दिया कि हिन्दुओं को बलात् खिलाओ-पिलाओ, मन्दिर और मूर्तियों को ध्वस्त करो। भारत का वह सबसे बड़ा मूर्तिभंजक निकला। औरंगजेब से भी अधिक कट्टर उसने अपने को प्रमाणित कर दिखाया। उसका नाम ही लोगों ने काला पहाड़ रख दिया। कहा जाता है कि हिन्दुओं के साथ उसने बहुत ज्यादती की। ज्यादती उसने की या हिन्दुओं ने उसके साथ ज्यादती की?

विचार कीजिए, धर्म की शरण हम क्यों ग्रहण करते हैं? इसलिए कि हम दुर्बल हैं और धर्म सबल है। हम मरणधर्मा हैं लेकिन धर्म शाश्वत है। हम धर्म की शरण इसलिए ग्रहण करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाकर शाश्वत ब्रह्म में स्थिति दिलाये। हम तो काटने से मरें, जहर से मरें और धर्म इतना गया गुजरा हो गया कि एक घूँट पानी पीने से, एक ग्रास चावल खाने से, रोटी के एक टुकड़े से नष्ट हो जाता है। जो फलों का रस पीने से नष्ट हो जाता है, वह हमारी रक्षा क्या करेगा? सिद्ध है कि वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कोई रूढ़ि पनप रही थी जो धर्म की संज्ञा पा गयी।

अंग्रेज आये तो उन्होंने भी यही किया कि हिन्दुओं को किसी तरह अपने साथ खिलाओ-पिलाओ। ईसाई मिशनरियाँ इसके लिए अधिक सक्रिय थीं। बाँदा जिले के मानिकपुर के पास इसी प्रकार की मिशनरी है। वे कोल-भीलों को अपनाते हैं, उनके दुःख-दर्द में दवा-कपड़ा बाँटते हैं, फिर उन्हें खाना खिलाकर छोड़ देते हैं और सुविधा बन्द कर देते हैं। प्रचार करा देते हैं कि यह भील ईसाई बन गया। भील जब अपने समाज में आता है तो सुनने को मिलता है, ''तै क्रिस्तान होईगा। देख मोर भड़वा न छुइहे।'' अर्थात् तू ईसाई हो गया, मेरे बर्तन न छू देना। भोलीभाली जनता धर्म-कर्म क्या जाने। सब लकीर के फकीर! यह धारणा व्यापक रूप से प्रसारित हो चली। यहाँ तक कि शहरों से लेकर जंगलों तक, उच्च से निम्न श्रेणी तक, मद्रास से मरुस्थलपर्यन्त- जहाँ कई-कई मील पर घर होते हैं, सर्वत्र एक ही धारणा बन गई कि पात्र मत छूना, तुम ईसाई हो गये।

भारतीय अपने को जगद्गुरु, विश्वगुरु कहेंगे किन्तु भारत से बाहर समुद्र पार करने में धर्म चला जाता है। जब पार ही नहीं होंगे तब विश्वगुरु कैसे होंगे! वस्तुतः सनातन-धर्म इतना अगाध और उदार है, जिसके बल पर भारत विश्वगुरु कहलाता है। विश्व का मानव भारत की अध्यात्म विद्या का ऋणी है। वशिष्ठ, अगस्त्य इत्यादि महर्षियों ने विश्व का भ्रमण किया था। ऋग्वेद में वशिष्ठ की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है। आज यहाँ तक रूढ़ियाँ फैलीं कि समुद्र पार मत करो अन्यथा धर्म नष्ट हो जायेगा। कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता का प्रचार अमेरिका में हो चुका था। वहाँ की प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियों से ऐसा ज्ञात हुआ है। दक्षिण-पूर्व एशिया तो पग-पग पर भारतीय सभ्यता से अनुस्यूत है। आज समुद्र-यात्रा से धर्म नष्ट हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार की कतिपय रूढ़ियाँ श्रीकृष्णकाल में भी प्रचलित थीं। उनमें से एकाध रूढ़ि का शिकार अर्जुन भी था। दोनों सेनाओं के बीच में

उसके रथ को जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने खड़ा कर दिया तो अर्जुन ने वहाँ अपना परिवार, मामा का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद् और गुरुजनों को ही खड़ा पाया। अर्जुन ने केवल अपने परिवार और सम्बन्धियों को देखा और कुछ भी नहीं देखा। रोमांच हो आया, अश्रुपात होने लगा। बोला- अपने ही परिवार को मारकर मैं कैसे सुखी होऊँगा? कुलधर्म सनातन है- ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है- ऐसा युद्ध करने से शाश्वत-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म पुरातन है, पुरातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर पैदा होगा, जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। अतः हम लोगों को धर्मरक्षा के लिए कोई उपाय तुरन्त करना चाहिए। हमलोग समझदार होकर भी महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। मैं ही भूल कर रहा हूँ- ऐसी बात नहीं, आप भी भूल कर रहे हैं। श्रीकृष्ण को भी लांक्षित किया। ऐसा कहते हुए अश्रुपात करता अर्जुन धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया। बोला- गोविन्द! अब मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने हँसते हुए-से कहा, ''अर्जुन! तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जिस स्तर का युद्ध मैंने बताया है, उसकी समता का कोई स्थल दुनिया में है ही नहीं। तूने यह तर्क कहाँ से लाकर रख दिया? तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? क्यों, अज्ञान कैसा? अर्जुन तो सनातन-धर्म की रक्षा के लिए उद्यत था। क्या सनातन- धर्म की रक्षा भी अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया, न तो यह स्वर्ग को और न कीर्ति को ही देनेवाला है। अर्जुन जिसके लिए आहें भर रहा था, सम्भावित पुरुषों ने कभी उसका आचरण ही नहीं किया। यदि वही सनातन-धर्म होता तो श्रेष्ठ पुरुष उसका आचरण अवश्य करते। सिद्ध है कि वह सनातन-धर्म नहीं, मात्र अर्जुन का अज्ञान था। आप देखें, अर्जुन किसे सनातन मानता था और भगवान के अनुसार सनातन क्या है?

अर्जुन ने प्रश्न किया, ''भगवन्! मैंने ऐसा सुना है कि कुलधर्म ही सनातन है। इसका पालनकर्ता ही वास्तविक सनातनधर्मी है। मैंने सुना भर है, देखा नहीं है। अब धर्म के रास्ते में मोहितचित्त मैं आपकी शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ। मुझे वह उपदेश कीजिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। किन्तु भगवन्! स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामित्व और धनधान्य-सम्पन्न पृथ्वी के अकण्टक साम्राज्य में भी मैं उस कल्याण को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अतः इतना ही मिलेगा तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। बल्कि यही लोग राज्य करें, हम भिक्षा पर ही निर्वाह कर लेंगे। (भीष्म, द्रोण इत्यादि गुरुजनों को मैं बाणों से कैसे मारूँगा? वस्तुतः आध्यात्मिक पक्ष ऐसा है जिसमें अन्त में 'गुरु न चेला पुरुष अकेला' रह जाता है। गुरु का गुरुत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व शिष्य के अन्तराल में प्रवाहित हो जाता है। न गुरु ही विलग रहता है, न प्रभु ही। उनका पृथक् अस्तित्व अन्ततोगत्वा मिट जाता है। यही उनका मरना है।) अतः इसके आगे भी कोई सत्य हो तो उसे मेरे प्रति कहिए।''

तब श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों-जैसी बातें भर करता है। पण्डितों की जानकारी से तू बहुत दूर खड़ा है। पण्डित लोग जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए शोक नहीं करते और जो जीवित हैं, उनके लिए खुशी भी नहीं मनाते; क्योंकि आत्मा न कभी मरती है, न जन्म लेती है। यह केवल वस्त्र बदलती है। अर्जुन ने पूछा- इसके आगे भी कोई सत्य हो तो कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा ही सत्य है। यह आत्मा परमसत्य है। आत्मा ही सनातन है। हमलोग कौन हैं? सनातनधर्मी! आत्मा शाश्वत है। हमलोग कौन हैं? शाश्वत-धर्म के अनुयायी! जो इस आत्मा को उपलब्ध करा देनेवाली प्रक्रिया नहीं जानता वह सनातन-धर्म का प्रत्याशी हो सकता है किन्तु सनातनधर्मी नहीं है। वह प्रक्रिया-विशेष सनातन धर्म की क्रिया कहलायेगी जिसके द्वारा

उस आत्मा की प्राप्ति सम्भव है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी क्रिया को कर्मयोग, निष्काम कर्मयोग के नाम से सम्बोधित किया है, जो यज्ञ की प्रक्रिया-विशेष है। इस आत्मा की प्राप्ति का वही एकमात्र उपाय है। मन के निरुद्ध अवस्था में ही उस आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन सम्भव है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि यह आत्मा अकाट्य है, अशोष्य है। वायु इसे सुखा नहीं सकता, पानी इसे गीला नहीं कर सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह अजर, अमर, शाश्वत और अमृतस्वरूप है जिसमें मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। प्रकृति में उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु उस सनातन का स्पर्श ही नहीं कर सकती तो एक घूँट पानी पीने से अथवा रोटी का एक टुकड़ा खाने से वह सनातन नष्ट कैसे हो सकता है? वह अजर-अमर सनातन मर कैसे सकता है? सिद्ध है कि धर्म के नाम पर कतिपय रूढ़ियाँ प्रचलित हो गयी थीं। उन्हीं के चंगुल में फँसकर सनातन धर्म को माननेवाला समुदाय अस्त-व्यस्त हो गया। वस्तुतः वह सनातन-धर्म नहीं था, उसके नाम पर एक रूढ़ि पनप गयी थी।

जब सनातन शाश्वत आत्मा सबके अन्दर है ही तो ढूँढ़ा किसे जाय? शरीर के भीतर अजर-अमर-शाश्वत कोई वस्तु दिखाई तो नहीं पड़ती। रात-दिन शोक, सन्ताप और मृत्यु ही दिखाई देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! यह आत्मा अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह आत्मा दिखाई नहीं देती। तब तक हमारे उपभोग के लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अब चित्त का निरोध ही कैसे हो? उस चित्त निरोध की विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है, इस कर्म का आचरण ही धर्म है और यह धर्म अपरिवर्तनशील है अर्थात् धर्म कभी बदलता नहीं है। अर्जुन! आत्मा ही अजर, अमर और शाश्वत है। प्रश्न उठता है कि आप कहते हैं इसलिए मान लें। श्रीकृष्ण समाधान करते हैं- ''अर्जुन! आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा

कि आत्मा सत्य है, यही परम सत्य है, शाश्वत और सनातन है।'' किसने देखा? तत्त्वदर्शियों ने देखा! न किसी प्रोफेसर ने देखा, न दस भाषाओं के जानकार ने देखा, न किसी समृद्धशाली ने ही देखा। इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने ही देखा।

अब एक नवीन प्रश्न खड़ा होता है कि तत्त्वदर्शिता क्या है? गीता अध्याय १८/५१-५५ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्त्व की चाहवाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। संगदोष से अलग रहकर इन्द्रियों को वासनाओं से भली प्रकार समेटकर परम वैराग्य में स्थित रहते हुए, एकान्त-देश का सेवन करते हुए चित्त को ध्यान में लगावे। यह नहीं कि हम कुछ भी करते हैं तो कर्म करते हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। उस नियत विधि-विशेष की जानकारी होनी चाहिए। लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए। दीर्घकाल तक सतत अभ्यास करते-करते मन इतना सूक्ष्म हो गया कि काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर इत्यादि बाह्य प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण से सर्वथा शान्त हो गयीं; विवेक, वैराग्य, ध्यान और समाधि उभरकर आ गये, पूर्णतः परिपक्व हो गये, उस समय वह साधक ब्रह्म को जानने योग्य होता है। आवश्यकता तो थी तत्त्व को जानने की; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- ब्रह्म को जानने योग्य होता है, क्योंकि तत्त्व और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है। भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है, परिणाम देने की स्थिति में है। इस पराभक्ति के द्वारा ही पुरुष उस परमतत्त्व को जानता है।

उस समय परमतत्त्व जानने में तो आ जाता है; किन्तु वह तत्त्व है कैसा? श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, अजर-अमर-शाश्वत-अव्यक्त जिन अलौकिक गुणधर्मों वाला हूँ उसको जानता है (अर्थात् भगवान जो हैं, जिन अलौकिक गुणधर्मों से संयुक्त हैं उनको जानता है) और मुझको जानकर तत्क्षण मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। पहले तो भगवान जानने में आते हैं और दूसरे ही क्षण अपनी आत्मा को ईश्वरीय

गुणधर्मों से भरपूर पाता है। वह तत्वदर्शी है। गोस्वामी तुलसीदासजी इसी स्थल के लिए संकेत करते हैं, **'तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई।'**– भगवन्! तुम्हारी ही कृपा से कोई-कोई ही तुम्हें पाते हैं। पाने पर उसका स्वरूप कैसा होगा? **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(मानस, २/१२६/३)*– तुम्हें जानकर वह तुम ही बन जाता है। श्रुति है **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।'**– ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। साधना के पूर्तिकाल में उस परमतत्त्व परमात्मा का जिसने दिग्दर्शन और स्पर्श किया तो उस क्षण उसे भगवान दिखाई पड़े; किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ही ईश्वरीय गुण-धर्मों से परिपूर्ण, अव्यक्त और शाश्वत की श्रेणी में पाता है। श्रीकृष्ण परमात्मा को ही परमतत्त्व मानते हैं, न कि पाँच तत्त्व या पचीस प्रकृति को!

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने, जिन्होंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा, साक्षात्कार किया, उन्होंने देखा कि आत्मा ही परम सत्य है, आत्मा ही शाश्वत है, आत्मा ही सर्वत्र व्यापक है, इसके आगे कोई सत्य नहीं और यही सनातन है। अतः यदि हमें तत्त्व की चाह है, सनातन-धर्म की चाह है तो हमें आत्मा को प्राप्त करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष को समझना चाहिए और उस पर चलना चाहिए। आत्मानुभूति ही सनातन-धर्म है।

आत्मा देश में, विदेश में, यूरोप में, अमेरिका में, रहस्यमय सौरमण्डल एवं जो टापू खोज में न आये हों उनमें भी सर्वत्र एक-जैसी है, व्यापक है। सभी आत्माएँ उसी एक शाश्वत सत्ता की आशा करती हैं। यह बात अलग है कि संकटापन्न स्थिति में उस सत्ता की याद धुँधली पड़ जाय। अरबी भाषा में उसे खुदा कहते हैं। अंग्रेज उसी को 'सुप्रीम गॉड' कहकर पुकारते हैं, जिसे संस्कृत में ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। आत्मा सब में समान है। कोई यूरोप में पैदा हुआ हो अथवा विश्व के किसी कोने में, यदि वह उस आत्मतत्त्व की ओर अभिमुख है तो सनातनधर्मी है। आंग्ल भाषा के माध्यम

से जल को वे 'वाटर' भले ही कह लें, 'सुप्रीम गॉड' कहकर वे उसी आत्मा की प्राप्ति करेंगे।

यदि हम आत्मा की प्राप्ति करा देने की प्रक्रिया से अवगत नहीं हैं तो हम सनातन- धर्म के प्रत्याशी भले हों, सनातनधर्मी नहीं हैं। जब तक भूत-प्रेत या इधर-उधर पूजाएँ करते रहते हैं तब तक हम सनातन-धर्म से अवगत नहीं हैं। रूढ़ियों में फँसकर छूने-खाने से नष्ट होने की घड़ी आई, जबकि आजकल कोई छूने-खाने से नष्ट नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि अब धर्म सबल है बल्कि लोग साक्षर हो गये हैं। वे पूछ बैठते हैं कि बताइये पण्डितजी! धर्म नष्ट कैसे हुआ? धर्म का स्वरूप क्या है? पण्डित जी तो यह भी नहीं जानते। चुप हो जाते हैं। अतः धर्म सबल नहीं हुआ, बल्कि अन्धविश्वासों पर उँगली उठानेवालों का समूह बढ़ गया। 'छूने-खाने से धर्म नष्ट होना' कहनेवाले लोग भी नहीं जानते कि वस्तुतः धर्म है क्या? कर्म है क्या?

अब यदि आपको उस क्रिया-विशेष को जानना है जिसका नाम धर्म है, सनातन आत्मा की प्राप्ति करनी है तो श्रीकृष्ण के शब्दों में तत्त्वदर्शी सद्गुरु के पास जाओ। निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करके उनसे प्राप्त करो।

।। ॐ ।।

११. भगवान कर्ता हैं या अकर्ता ?

समाज में एक विवादास्पद प्रश्न है कि भाग्य प्रबल है या पुरुषार्थ? मनुष्य कर्म करने में कितना स्वतंत्र है? कुछेक कहते हैं कि संसार में अपना कर्म ही प्रधान है, भगवान कुछ नहीं करते; तो कोई कहता है कि कर्ता-धर्ता तो भगवान हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान कर्ता हैं या अकर्ता?

महाभारत युद्ध के कई दिन हो गये थे। एक दिन दुर्योधन ने सेनानायक भीष्म पितामह को उपालम्भ देते हुए कहा– पितामह! आपके पास तो ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र हैं कि आप चाहें तो एक ही दिन में पाण्डव-सेना का वध कर सकते हैं। मुझे तो लगता है कि आप युद्ध कर ही नहीं रहे हैं! आप प्रतिदिन जिन दस हजार योद्धाओं का वध कर रहे हैं, उनसे हमारी कोई शत्रुता नहीं है। हमारे शत्रु तो यह पाँच पाण्डव हैं। आप इनमें से किसी का वध करें या सेनापतित्व से हट जायँ। मेरा मित्र कर्ण एक दिन में युद्ध जीत सकता था, किन्तु आपने उसे अपने सेनापतित्व में युद्ध करने से रोक दिया! भीष्म बिगड़ खडे हुए, बोले– वह अर्धरथी कर्ण मेरे समकक्ष सेनापति बनेगा?–यह असम्भव है दुर्योधन! पाण्डव तो अवध्य हैं, भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित हैं। उन्हें कोई मार नहीं सकता। मारे जाओगे तुमलोग। विजय होगी पाण्डवों की। किन्तु आज तुमने लांछन बहुत लगाया है। जाओ, कल युद्ध समाप्त हो जायेगा।

दूसरे दिन भीष्म वह दिव्यास्त्र लेकर खड़े हो गये कि शत्रु की सेना एक ही बार में समाप्त हो जाय। कौरव सेना तटस्थ खड़ी थी। भीष्म दिव्यास्त्र के संधान में लगे थे। श्रीकृष्ण समझ गये। उन्होंने कहा– पाण्डवों, ध्यान से देखो, श्वेत वस्त्रों में आप सबके समक्ष कौन खड़े हैं? उन्होंने बताया– यह तो पूज्य दादाजी हैं। श्रीकृष्ण ने पूछा– इनसे तुमलोगों का कोई बैर-विरोध है? उन्होंने बताया– कदापि नहीं। यह तो हमारे आदरणीय हैं। श्रीकृष्ण ने कहा– तब इनका आदर करो। पाण्डवों ने पूछा– कैसे आदर

देना होगा? भगवान ने बताया– दादाजी से क्या लड़ना! अपने-अपने शस्त्र जमीन पर रख दो, इनसे लड़ो मत! हाथ जोड़ लो, पीठ दिखा दो। पूरी सेना घूम गयी। केवल भीम ने पीठ नहीं दिखाई।

भीष्म द्वारा चलाया हुआ वह दिव्यास्त्र पाण्डव सेना के चारो ओर घूमता हुआ भीम की ओर घूम गया। भीम लगा गदा भाँजने। वह अस्त्र लगा प्रज्ज्वलित होने। उसके तेज से भीम झुलसने लगा। भगवान ने कहा– भीम! गदा फेंक दो, जल जाओगे। भीम ने कहा– केशव! अपना उपदेश अर्जुन को कीजिए। मैं शूरवीर हूँ, युद्ध में पीठ नहीं दिखा सकता। होगा दिव्यास्त्र, मैं इसे अपनी गदा से तोड़ दूँगा अथवा वीरगति प्राप्त कर लूँगा। भगवान ने देखा– ऐसे भक्त को समझाना कठिन है। भक्तों के लिए मुझे क्या-क्या नहीं करना पड़ता! यहाँ उपदेश काम नहीं करेगा, अपने रथ से कूदकर भगवान ने दौड़कर भीम को छाती से लगा लिया। इधर श्रीकृष्ण की पीठ, उधर भीम की पीठ! परिक्रमा करके दिव्यास्त्र लौट गया, उस दिन कोई मरा ही नहीं। वस्तुत: जो भगवान की शरण में होता है, दुनिया में ऐसा कोई नहीं जो उसका वध कर दे। निष्काम कर्मयोग का रहस्य यही है कि अर्जुन! कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। फल की वासनावाला न हो, यह समझ की फल है ही नहीं लेकिन कर्म करने में अश्रद्धा भी न हो। तल्लीन होकर कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। केवल देखा करो कि भगवान कहते क्या हैं? चाहते क्या हैं? समझते जाओ, लगे भर रहो, साधना में कटौती न होने पाये।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरति डोर लागी रहे, तार टूटि न जाय।।

कर्म माने आराधना! श्रद्धा-समर्पण के साथ कर्म में लगे रहना ही साधक का दायित्व है। इसी कुशलता के साथ कर्म करने का निर्देश गीता में भी है, देखें–

प्रश्न - भगवन्! गीता के अनुसार, 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'- मनुष्य तो निमित्त मात्र है, फिर उसे दोषी क्यों ठहराया जाता है? मोटर एक्सीडेण्ट होने पर भी कोई मोटर को दोषी नहीं ठहराता। वह तो चालक की कला की त्रुटि है। अतः भगवान से संचालित जीव को दोषी क्यों कहा जाता है? भगवान के इशारे के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तो मनुष्य को पाप का भागी बनाना कहाँ तक न्याय है?

उत्तर- देखिये, वास्तव में भगवान ऐसा नहीं करते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! वह प्रभु न करता है, न कराता है और न क्रिया के संयोग को ही जोड़ता है। मान लीजिए वह न करता हो, न कराता हो किन्तु जुगाड़ तो लगा सकता है। किन्तु नहीं; वह क्रिया के संयोग को भी नहीं जोड़ता। इतने पर भी अर्जुन! जो लोग कहते हैं कि परमात्मा करता है उनकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, इसलिए वे कुछ-न-कुछ कहते रहते हैं। वास्तव में भगवान नहीं करते।

इसी को स्पष्ट करते हुए अध्याय अठारह में वे कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं- कर्ता, न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की चेष्टायें, आधार और दैव। यह मन कर्ता है। जिन साधनों से कर्म किये जाते हैं, वे करण कहलाते हैं। यदि शुभ कर्म करते हैं तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकान्त-देश का सेवन, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, आर्जव इत्यादि करण हैं। इनके द्वारा हम उधर प्रवृत्त होते हैं। यदि अशुभ कर्म होता है तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, अनन्त चेष्टायें इत्यादि करण होंगी। इनके द्वारा ये कर्म रूप लेते हैं। इच्छायें अनन्त होती हैं, चेष्टायें भी नाना प्रकार की होती हैं लेकिन सबकी पूर्ति नहीं होती। उनमें से जिस इच्छा के साथ आधार मिल जाता है, अनुरूप वातावरण मिल जाता है, वही आधार है। पाँचवाँ हेतु दैव है। दैव होनी या प्रारब्ध को कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्म के होने में बस यही पाँच कारण हैं, फिर भी जो

कहता है कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा कर्ता है, प्रेरक है, वह अविवेकी है। वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते।

महाभारत के युद्ध में उस अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में, जो एक गणना के अनुसार लगभग चालीस लाख होता है, एक अन्य गणना के अनुसार छः अरब होता है, केवल अर्जुन ही भगवान का निकटवर्ती रहा जिसके लिए भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं कि **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** *(गीता, ११/३३)*- अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं निश्चित कहता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। तेरे लिए मैंने पहले ही इनको मार रखा है। भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि सभी मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इन मारे हुए को मार और यश प्राप्त कर।

लीजिए! एक स्थल पर कहते हैं कि कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्ता माननेवाला मूढ़बुद्धि है, अविवेकी है, उसकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते और यहाँ भगवान स्वयं खड़े हो गये कि अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खड़ा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। मुझ पर भरोसा रख। मेरे आश्रित हो।

अन्ततः वह महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वास्तव में भगवान और माया के बीच में एक सीमा रेखा है। एक निर्धारित अवस्था तक माया प्रेरणा करती है, उसके पश्चात् ईश्वर प्रेरक हो जाता है। साधना के सही दौर में पड़कर निर्धारित सीमा पार कर लेने पर ईश्वर प्रेरक हो जाता है। जब तक साधक माया के क्षेत्र में है तब तक उससे प्रत्येक कार्य के होने में न्यारे-न्यारे करण ही माध्यम हैं। किन्तु जब साधक माया की परिधि पार कर ले जाता है, ईश्वरीय आकर्षण-क्षेत्र तक पहुँच जाता है, ऐसे पथिक की बागडोर इष्टदेव अपने हाथ में ले लेते हैं। ऐसे भक्त के लिए वे स्वयं कटिबद्ध रहते हैं और यहाँ तक कि **'जहाँ भगत मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ। पाछे**

लागा सदा रहूँ, कबहूँ न छाडूँ साथ।।' इस अवस्था के पश्चात् यदि कोई पथिक स्वयं पतित होना चाहे तो हो नहीं सकता। भगवान उसे पतित होने ही नहीं देंगे। वे बचा लेंगे जैसे कि नारद को बचाया। अर्थात् उस सीमा के पार होने के बाद भगवान करते हैं।

अतः प्रत्येक पुरुष को चाहिए, चाहे वह गृहस्थ आश्रम में रहे या कहीं भी रहे, प्रातः-सायं नियमित रूप से उस आराध्य देव के स्वरूप का चिन्तन करे। रुचि के अनुसार कुछ समय किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम का जप करें। श्रीकृष्ण ने तो ओम् जपने का निर्देश दिया है- **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।'** *(गीता, ८/१३)*- अर्जुन! 'ओम्' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका तू जप कर और ध्यान मेरे स्वरूप का धर। मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण कर। ध्यान मेरा और नाम ओम् का जप।- क्योंकि प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक महापुरुष का नाम वही होता है जिसे वह प्राप्त है। अर्थात् प्राप्ति के पश्चात् हर महापुरुष का नाम ओम् हो जाता है, अतः नाम तो ओम् का जपें और ध्यान प्राप्तिवाले महापुरुष का अर्थात् सद्गुरु का करें।

।। ॐ ।।

१२. विप्र

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न जातियों, उप-जातियों की संरचना को लेकर प्रश्न उठते रहे हैं। जाति का निर्धारण जन्म से होता है या कर्म से? विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? आर्षग्रन्थों में विप्रों की महिमा का वर्णन मिलता है, वह विप्र समाज में ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित नागरिक है अथवा कोई स्थिति? जहाँ तक भारत के आध्यात्मिक ग्रन्थों में विप्र का स्वरूप वर्णित है, उससे स्पष्ट है कि विप्र एक स्थिति है, योग्यताओं को अर्जित करने के पश्चात् मिलनेवाली उपाधि है, न कि जन्म से कोई विप्र होता है। श्रीमद्भागवत् में है कि विधाता ने सत्त्वगुण की प्रधानता से चार पुरुषों का सृजन किया; वे थे– सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। ब्रह्मा ने उनसे कहा कि सृष्टि की रचना करो। उन्होंने कहा– नहीं, हम ब्रह्मचिन्तन करेंगे। और वे ब्रह्मचिन्तन के लिए चले गये। यही सृष्टि के आदिब्राह्मण थे जिनसे कोई सृष्टि चली ही नहीं। उनकी ओर से निराश होकर विधाता ने राजसी गुण की प्रधानता तथा स्वल्प सात्त्विक गुण को लेकर एक पुरुष की और रचना की, उनका नाम था मनु। उनसे भी ब्रह्मा ने सृष्टि रचना का आग्रह किया। उन मनु और शतरूपा की तीन पुत्रियों से सारा संसार पट गया। मानव उन्हीं की संतान हैं।

मनु की चौथी पीढ़ी में महाराजा ऋषभदेव हुए। उनके सौ पुत्रों में से सबसे बड़े भरत हुए। दूसरे थे बाहुबली जो बहुत लम्बे थे, बलशाली थे। ऋषभ ने अपने सौ पुत्रों को सौ स्थानों का राजा बना दिया और स्वयं भजन करने निकल गये। महाराज ऋषभ के पश्चात् उनके बड़े पुत्र भरत सम्राट हुए। उन्होंने अपने शस्त्रागार में एक चक्र देखा तो मंत्रियों से पूछा– यह क्या है? मंत्रियों ने कहा– आपको चक्रवर्ती होना चाहिए। भरत ने अपनी अधीनता स्वीकार कराने के लिए सभी राज्यों में सैन्यबल भेजा। सब जगह से जीतकर जब उनकी सेना वापस आयी तो चक्र शस्त्रागार में पुनः नहीं

जा रहा था। मंत्रियों से पूछा तो उन्होंने बताया कि आपके भाइयों ने अभी आपकी अधीनता स्वीकार नहीं की है इसलिए अभी आप चक्रवर्ती नहीं हैं। भरत ने दोबारा सेना भेजी तो उनके ८१ भाइयों ने कहा कि पिताजी ने हमको राज्य दिया है, किन्तु बड़े भाई से हमलोग लड़ भी तो नहीं सकते। सबने अपना मुकुट उतारकर लड़कों के सिर पर रख दिया, उन्हें कहा– बड़े पिता के यहाँ जाकर उनका आशीर्वाद लो। ऋषभ के ८१ पुत्रों ने ऐसा किया और कौपीन पहन कमण्डल लेकर वे वन को चले गये। कठोर तपस्या करके वे ब्राह्मण हो गये। भरत के नौ भाई कठोर तपस्या करके योगेश्वर हो गये।

भरत के भाई बाहुबली ने कहा– मैं युद्ध करूँगा। आमने-सामने सेनायें खड़ी हो गयीं। मंत्रियों ने कहा– लड़ाई तो दो भाइयों में है, सेना अकारण क्यों मारी जाय? दोनों भाई आपस में युद्ध कर लें। इस पर मंत्रियों ने ही युद्ध का नियम बनाया– जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और मल्लयुद्ध। सीने बराबर जल में खड़े होकर एक दूसरे पर जल का छींटा डालो, जो मुँह घुमा ले, वह हार गया। जब बाहुबली ने छींटा मारा तो भरत ने पाँच-सात बार में ही मुँह घुमा लिया; और जब भरत ने छींटा मारना शुरू किया तो बाहुबली भरत से लगभग २ फीट ऊँचा था, उसकी आँखों तक छींटें पहुँच ही नहीं पाये। वह जीत गया।

दृष्टियुद्ध में दोनों शूरवीर एक दूसरे के सामने बैठकर देखें। जिसकी पलक झपक जाय, वह हार गया। भरत बाहुबली से स्नेह करते थे। परस्पर युद्ध की परिस्थिति देखकर उनकी आँखों में आँसू आ गये। वह हार गये। मल्लयुद्ध में बाहुबली भरत से कई गुना अधिक था। उसने भरत को ऊपर उठा लिया, किन्तु बड़े भाई को नीचे कैसे पटके? धीरे से नीचे उतार दिया। भरत को क्रोध आ गया। उन्होंने भाई पर चक्र चला दिया। चक्र शत्रु पर तो चल सकता है, किन्तु स्वजनों पर नहीं चलता। चक्र ने बाहुबली की

परिक्रमा की और लौट आया। बाहुबली को ग्लानि हुई कि इतनी पदलिप्सा! चक्रवर्ती बनने के लिए भाई-भाई के खून का प्यासा हो जाता है। नहीं चाहिये हमको ऐसा राज्य! वे भी दिगम्बर होकर भजन के लिए चल दिये। बारह महीने में उनको भी स्थिति मिल गयी।

ऋषभदेव विचरण करते हुए पुनः अपने राज्य में आये तो ब्राह्मण हो गये अपने ही पुत्रों को अपने से श्रेष्ठ बताया और उनकी पूजा के लिए कहा। प्रजा को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि पञ्चभूतों की अपेक्षा वृक्ष श्रेष्ठ हैं, वृक्षों से चलने-फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ हैं, उनमें कीटादि की अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु श्रेष्ठ हैं, उनसे भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों से प्रमथगण, गन्धर्व, सिद्ध और किन्नर श्रेष्ठतर हैं, उनसे भी असुर श्रेष्ठ हैं, असुरों से श्रेष्ठ देवता है, देवताओं से इन्द्र श्रेष्ठ हैं, उनसे भी ब्रह्मा के पुत्र रुद्र श्रेष्ठ हैं, उनसे ब्रह्मा और ब्रह्मा से मैं श्रेष्ठ हूँ किन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा, अध्ययन और ज्ञान– इन आठ गुणों से सम्पन्न हैं। ऋषभदेव ने तपस्या से ब्रह्मतत्त्व को विदित करनेवाले अपने ही पुत्रों को अपने से श्रेष्ठ बताया, वे ब्राह्मण कहलाये। इस प्रकार ब्राह्मण एक स्थिति है। ब्राह्मण कोई जन्मता नहीं, ब्राह्मण होता है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष ही विप्र हैं, वही सन्त हैं। इन्हीं विप्रों का वास्तविक स्वरूप गीता के सन्दर्भ में देखें–

प्रश्न– महाराजजी, ब्राह्मण कोई जन्म से होता है कि कर्म-साधना से बनता है? विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर– देखिये, विप्र ही नहीं, शूद्र भी माता से जन्म नहीं लेता। यह योग-साध्य है, भजन की स्थिति है। वर्ण पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। ***(गीता, १८/४१)***

हे परन्तप! **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'**- स्वभाव से जागृत गुणों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म विभाजित किये गये हैं। विभाजित वस्तु कर्म है, न कि मनुष्यों को विभाजित किया गया। स्वभाव परिवर्तनशील है, सदैव बदलता रहता है। स्वभाव के परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन होता रहता है। अतः गुणों में परिवर्तन होने पर वर्ण-परिवर्तन होना स्वतःसिद्ध है। कर्म की चरमोत्कृष्ट अवस्था में इच्छाओं सहित अन्तःकरण जीत लेने पर गुणसहित स्वभाव भी शान्त एवं विलीन हो जाता है। इसी अवस्था में परमकल्याणस्वरूप परमतत्त्व की प्राप्ति होती है जिसे परम नैष्कर्म्य-स्थिति कहते हैं। गोस्वामीजी ने गीता का ही अनुवाद 'विनयपत्रिका' में कर दिया है- **'गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द।'** *(पद सं. २०३)*- गुण और स्वभाव के मिट जाने पर ही उस परमानन्द की प्राप्ति सम्भव है। गुणों के अन्तर्गत ही आवागमन है। स्वभाव के जीते-जी प्रकृति जीती है। गुण और स्वभाव के विलय हो जाने पर परमतत्त्व सहज ही प्राप्त हो जाता है। साधना के पूर्तिकाल में गुण और स्वभाव नहीं रह जाते, अतः कोई वर्ण भी नहीं रह जाता। जब गुण ही नहीं हैं तो विभाजन किसका हो? वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी वर्ण नहीं रह जाता। आत्मा ही कैवल्य स्वरूप बच रहती है। इस प्रकार चारों वर्ण साधना के चार ऊँचे-नीचे सोपान हैं। कोई भी साधक स्वभाव और गुणों में परिवर्तन लाकर उच्च वर्गों में प्रवेश पा सकता है और अन्त में वर्णों से परे भी हो सकता है। वर्ण का निर्धारण जन्म से नहीं बल्कि स्वभाव में जागृत गुणों से होता है।

अब आइये विप्र की व्युत्पत्ति और पराकाष्ठा पर दृष्टिपात करें। श्रीकृष्ण कहते हैं-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। *(गीता, १८/४२)*

तप (शाश्वत-धर्म के लिये इन्द्रियों को तपाना ही तप है। उसके अनुरूप ढालना, उसकी कसौटी पर मन को कसना ही तप है।), इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, बाह्यान्तर शुद्धता, अन्तःकरण की शान्ति, **'आर्जवम्'**- सरलता, वास्तविक क्रिया की जानकारी ज्ञान, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि, आस्तिक भाव- यह सब **'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'**- ब्राह्मण श्रेणी का कर्म है जो स्वभाव से जन्मा है, उत्पन्न हुआ है। यह ब्राह्मण-श्रेणी के कर्म की प्रवेशिका है, निम्नतम सीमा है। ब्राह्मण-श्रेणी की पराकाष्ठा में, प्राप्तिकाल में कोई कर्म नहीं रहता; क्योंकि गुण और स्वभाव ही लुप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण श्रेणी के कर्म करते-करते गुण स्वभाव से परे होते ही साधक वर्णों से परे हो जाता है। शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

कोई भी प्राणी कर्म का सही स्वरूप समझकर इस ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है, ब्रह्म में विलय पा सकता है। सबके लिए इसका समान विधान है। गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा--

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(गीता, २/४५)*

अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों से ऊपर उठ। गुणों से ऊपर उठा तो वेदों से ऊपर उठ गया। किस प्रकार ऊपर उठ? निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व वस्तु में स्थित रहते हुए, योगक्षेम को न चाहता हुआ, आत्मपरायण हो। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या और भी कोई ऊपर उठा है? वेदों या तीनों गुणों से ऊपर उठ जायेंगे तो हम क्या हो जायेंगे? हमारी स्थिति क्या होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता, २/४६)*

सर्वत्र से परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय

(गड़ही) से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। क्षुद्र जलाशय में अधिक-से-अधिक शौच-क्रिया कर लेते हैं, इससे अधिक मनुष्य के लिये उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता। ठीक इतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रह जाता है। महापुरुष के लिए वेद नगण्य हैं किन्तु दूसरों के लिए तो वेदों का सब प्रकार से महत्त्व है। वेद ब्रह्म को विदित कराते हैं और जिसने ब्रह्म को ही जान लिया उसके लिए वेद का क्या महत्त्व? किन्तु वह गड़ही के रूप में हैं क्योंकि इन्हीं वेदों को ही वह कल्याणोत्थान के लिए निरूपित करता है। अतः अर्जुन! तू तीनों गुणों तथा वेदों से ऊपर उठ। ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन। जबकि आज अर्जुन क्षत्रिय है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक स्थिति-विशेष है। कोई भी साधक क्रमशः चलकर उस विप्रत्व में प्रवेश पा सकता है और उसको भी पार करके ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में पूर्णस्थिति ही प्राप्त कर लेता है जो विप्रत्व की उच्चतम सीमा है। स्वयं के लिये वह न विप्र है और न शूद्र; किन्तु अन्य के लिये वह विप्रस्वरूप है। अतः किसी जाति-विशेष के लिए ही (जैसा आजकल समाज में प्रचलित है) विप्रत्व का विधान हो, ऐसी बात नहीं है। विप्र के लक्षण क्या हैं? तत्त्ववित् पुरुष के लक्षण क्या हैं?- इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। *(गीता, ५/१८)*

विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल में, गाय, कुत्ता तथा हाथी में **'पण्डिताः'**- पूर्ण ज्ञानी लोग **'समदर्शिनः'**- समान दृष्टिवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई विशेषता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता। क्यों? क्योंकि सबके अन्तराल में जिस शाश्वत आत्मा का संचार है वे महापुरुष उसी परमात्मा की

स्थितिवाले हैं, सबके मूल में स्थित होते हैं। ऐसे महापुरुष की दृष्टि जब भी किसी पर पड़ती है, उसके आत्मिक प्रसार पर ही पड़ती है। आत्मा पर पड़ती है, चमड़ी पर नहीं। वह जीवात्मा उत्थान अथवा पतन जिस भी स्थिति में होती है, उसको वहीं से मार्गदर्शन उन महापुरुष द्वारा प्राप्त होने लगता है। यह ब्रह्मस्थित प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के लक्षण हैं, विप्रत्व की चरम सीमा है।

एक अन्य श्लोक में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि ब्राह्मण कब और कैसे होता है?-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमशः उत्थान करते-करते इतनी सूक्ष्म हो गई कि **'कामसंकल्पवर्जिताः'**- जहाँ काम और संकल्प नहीं रहते (काम और संकल्प से रहित होना ही मन की विजेतावस्था है; क्योंकि संकल्प-विकल्प का उतार-चढ़ाव तो इस मन पर है) तो मन के निरोध के साथ ही **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**- जिसे हम नहीं जानते, वह शाश्वत जिसका नाम परमात्मा है, विदित हो जाता है। इसकी प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। उस ज्ञानरूपी अग्नि में **'दग्धकर्माणम्'**- कर्म सदा के लिये जल जाते हैं। कर्म अर्थात् आराधना ही समाप्त हो जाती है। आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे ढूँढ़े, इसलिये कर्म सदा के लिए शेष हो जाते हैं। **'तमाहुः पण्डितं बुधाः'**- बोधस्वरूप महर्षियों ने ऐसे ही स्थितिवाले पुरुष को पण्डित कहकर सम्बोधित किया है। उसकी क्रिया में लेशमात्र भी कसर नहीं है अतः यह ब्राह्मण की अधिकतम सीमा एवं पराकाष्ठा है। वह ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता है। ब्रह्म पर है, परब्रह्म से संयुक्त है इसलिये विप्र है। द्वि अर्थात् द्वैत पर जय पानेवाला है, इसलिये द्विज है।

अतः ब्राह्मण, विप्र, द्विज साधना का ही एक स्तर-विशेष है, न कि कोई जन्मना ब्राह्मण होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र **'स्वभावजम्'**-स्वभाव तथा **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'**-स्वभाव से होनेवाले गुणों से निर्धारित होते हैं। कालान्तर में अपभ्रंश हो जाने से लोगों ने अन्तःकरण की वस्तु को बाहर देखने का प्रयास किया इसलिए बहुत-सी जातियाँ, उपजातियाँ और सम्प्रदाय पैदा हो गये। सभी मत-मतान्तर केवल उदर-पोषण की लिप्सा एवं मान-सम्मान की भावना को लेकर बने हैं और बाह्य आडम्बर मात्र हैं। जिससे दबते बना दबा, जिसे दबाते बना दबाया। अन्यथा योगदर्शन, गीता, श्रीरामचरितमानस अथवा इसी स्तर के प्रत्येक महापुरुषों की वाणी में अन्य कुछ नहीं मिलता। भगवान महाबीर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, गुरुनानक[1] और तुलसी इत्यादि सभी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों शब्दों का प्रयोग किया, चारों को स्वीकार किया लेकिन सबकी दृष्टि एक ही है कि आराधना के ही क्रम को चार श्रेणियों में बाँटा गया जिसमें ब्राह्मण एक उच्चतम अवस्था स्थल है। ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा में ब्रह्म में विलय दिलानेवाले सारे लक्षण होते हैं। विलय के पश्चात् वह स्वयं में न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य है न शूद्र। यही ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा है। हाँ, दूसरों के लिए वह ब्रह्म का परिचायक, उपदेशक और प्रेरक है। ब्रह्म में विलय दिला देने की उसमें क्षमता है इसलिये वह विप्र भी पुकारा जाता है। नहुष को शाप किन विप्रों ने दिया था? जिन तपोधनों ने उन्हें शाप दिया वे जन्म से कहाँ कुलीन थे? अतः कोई भी व्यक्ति क्रिया से चलकर विप्र बन सकता है, आप भी बनें। उस वास्तविक क्रिया की जानकारी के लिये तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जायँ क्योंकि वही

---

१. गुरुनानक- ''योग शब्द गियान शब्द ते ब्राह्मन।'' ज्ञान और योग शब्द में पाये जानेवाले भेद को जो यथार्थतः जानता है, विप्र है।

वस्तुतः विप्रत्व के ज्ञाता हैं।[२] गीता के अनुसार ब्राह्मणत्व अर्जित किया जाता है। यह एक स्थिति है-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।। *(गीता, १७/२३)*

ओम्, तत् और सत् परब्रह्म परमात्मा का नाम है जो ब्रह्म के ही श्रीमुख से प्रसारित हुआ है। इसी ओम्, तत् और सत् के द्वारा यज्ञ, वेद और ब्राह्मण रचे गये हैं। अस्तु, ब्राह्मण एक रचना है।

यज्ञ एक निर्धारित क्रिया है। जिसमें एक परमात्मा में निष्ठा, सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान और उनकी सेवा, इन्द्रियों का संयम, मन का निरोध और श्वास-प्रश्वास के यजन से जहाँ प्राणायाम की स्थिति आयी तो सनातन ब्रह्म का दर्शन और उसमें प्रवेश! यह यज्ञ का पूर्तिकाल है। जहाँ यज्ञ पूर्ण हुआ तहाँ वेद रचे गये। जो तत्त्व अविदित था विदित हो गया। अतः वेद भी रचना है। जिसने उस प्रभु को विदित कर लिया, ब्रह्म का दर्शन, स्पर्श और स्थिति पा गया, वह ब्राह्मण है। अतः ब्राह्मण एक रचना है न कि संसार के मनुष्यों की कोई प्रजाति।

।। ॐ ।।

---

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय अष्टम ब्राह्मण में जनक की यज्ञसभा में याज्ञवल्क्य गार्गी को बताते हैं- गार्गी! उस परमतत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। जो उस अक्षर को जानता है, वही ब्राह्मण है।

वास्तव में जो भी व्यक्ति ब्राह्मणत्व के गुणधर्मों से युक्त है, वही ब्राह्मण है। वही सृष्टि में सर्वोपरि, एकमात्र पूजनीय है, इसमें दो राय नहीं है। अतः महापुरुषों की जाति, वेष इत्यादि बाह्य गुणधर्मों पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

१३. देवता

नश्वर संसार में शाश्वत एक परमात्मा की शोध भरतीय मनीषियों की विश्व को एक अप्रतिम देन है। किन्तु धर्मशास्त्र के अभाव में शाश्वत का पुजारी भारत नश्वर कलेवरों में, देवी-देवताओं में भटक रहा है। आर्षग्रन्थों में परमात्मा से भिन्न देवताओं का कहीं अस्तित्व नहीं है। आध्यात्मिक मनीषियों ने देवताओं का निवास मानव-इन्द्रियों में बताया है। मानस के अनुसार– **'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।।' (मानस, ७/११७/१५)** इन्द्रियों के देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता, विषय-भोग पर ही इनकी दृष्टि रहती है। विषय-भोग दिखाई पड़ जाय तो इन्द्रियाँ खींचकर उधर ही चली जाती हैं। देवता हृदय में दैवी-सम्पद् का उत्कर्ष है। इन्द्रियों में जहाँ दैवी सम्पद् का बाहुल्य हुआ, तहाँ मन करता है कि इसका परिणाम ऋद्धि-सिद्धि मिले। कुछ भी चमत्कार दिखाई पड़ा तो साधक उधर आकर्षित हो जाता है कि और मिले।

नेमि ऋषि भजन कर रहे थे। वे शान्त एकान्त में दिन में एक बार आँखें बन्द किये ही नीम का छिलका खा लेते और रात-दिन भजन में लगे रहते। देवराज इन्द्र को लगा कि ऋषि उनका इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रहे हैं इसलिए उन्हें तप से विचलित करने के लिए मेनका को भेज दिया। उसने अध्ययन किया कि महात्मा छिलका खाते हैं। ज्यों ही वह छिलका की ओर हाथ बढ़ाते, मेनका वहाँ मलाई-खोवा चिपका देती। पन्द्रह दिन तो ऋषि को पता ही नहीं चला कि छिलका खा रहे हैं या खोवा? रक्त-संचार सामान्य हुआ, चेतना लौटी तो लगा, नीम का स्वाद कुछ बदला-बदला प्रतीत हो रहा है। कुछ दिनों बाद समझ में आया कि स्वाद खोवे का लग रहा है। धीरे-धीरे कुछ छम-छम सुनाई पड़ा तो सोचा, जंगल में ये क्या है? आँखें खोलकर देखा तो एक सुन्दरी! धीरे-धीरे दया का सञ्चार हुआ कि इस घनघोर जंगल में इस देवी ने मेरे लिए इतना कष्ट

सहा। क्रमशः ऋषि दयार्द्र हो गये और उसे अपनी कुटिया में आश्रय दे दिया। फिर जितना समय भगवान के चिन्तन में देते थे, अब कम होने लगा और एक दिन नियम भंग हो गया।

इसी प्रकार विश्वामित्र को तपस्या से विचलित करने के लिए मेनका को ही देवराज ने भेजा। उसने भी सेवा के द्वारा ऋषि के आश्रम में स्थान बना लिया। एक कन्या को जन्म देने के पश्चात् वह देवलोक चली गयी तो ऋषि मेनका की खोज में विकल हो गये। आकाशवाणी हुई– मेनका महाराज! वह तो माया थी, आयी और गयी। आप साधन-पथ से च्युत हो गये!

देवर्षि नारद को तपस्या से विचलित करने के लिए देवराज इन्द्र ने कामदेव के साथ अप्सराओं की एक सेना ही भेज दी। कामकला से मुनि विचलित नहीं हुए तो कामदेव ने देवर्षि का अभिनन्दन करते हुए उनसे क्षमा-याचना की। नारदजी खुश हो गये। उन्होंने पूछा– तुम कौन हो? तुम क्या कर रहे थे? कामदेव ने बताया कि देवराज इन्द्र के निर्देशन पर हम आपको भजन से विरत करने आये थे। देवर्षि ने पूछा– इन्द्र का हमने क्या बिगाड़ा है? कामदेव ने कहा– आपने तो कुछ नहीं बिगाड़ा, किन्तु उन्हें भय है कि कहीं आप उनका सिंहासन न ले लें।

सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज।।

(मानस, १/१२५)

सूखी हड्डी का टुकड़ा लेनेवाला कुत्ता सिंह को देखकर भागने लगता है कि कहीं यह हमारी हड्डी न छीन ले। इसी प्रकार देवराज का भी यह प्रयास था। स्पष्ट है कि देवता त्रिकालज्ञ भी नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि देवर्षि भगवान को पाने के लिए तपस्या कर रहे हैं या इन्द्रासन के लिए? जब वह मनोकामना भी जान नहीं सकते तो आपकी कामना वे कैसे

पूरी करेंगे? काम से तो देवर्षि बच गये किन्तु अहंकार से नहीं बच पाये। काम ने अपना प्रभाव दिखा ही दिया।

द्वापरयुग में नरकासुर ने देवमाता अदिति के कुण्डल छीन लिये। इन्द्र कुछ लड़े किन्तु भाग गये। वह देवकन्याओं को उठा ले गया। उसके ऊपर इन्द्र का वज्र भी काम नहीं किया। भगवान ने उन कन्याओं का उद्धार किया। नरकासुर का अन्त कर देवमाता के कुण्डल भगवान ने उन्हें वापस लौटाये।

सारांशत: देवता पूजा की वस्तु नहीं हैं। यह सदैव अवसरवादी रहे हैं। यह विजेता भी नहीं हैं। यह स्वयं मुक्त नहीं हैं और मुक्ति दे भी नहीं सकते–

कृतकृत्य विभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए।।
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।।

(मानस, ६/११०, छन्द)

इन्होंने कुछ भजन किया, कुछ ऐश्वर्य पा गये, इतना ही है। इसलिए भजन एक परमात्मा का ही करना चाहिए। आइए देखें, गीता में देवताओं का क्या स्वरूप है?–

प्रश्न– महाराजजी! योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहीं बाह्य देवताओं पर कटाक्ष करते हैं तो कहीं देवताओं की उन्नति करने को कहते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर– गीता में देवताओं के दो रूप हैं। एक तो अन्तःकरण की प्रवृत्ति दैवी सम्पद् है। यह दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा के स्वरूप की ओर प्रेरित करनेवाली है। यही परमदेव का देवत्व अर्जित कराती है। यही परमतत्त्व में प्रवेश देती है, देव बनाती है; इसलिए यह इष्ट-प्रसारिणी सम्पद् 'दैवी सम्पद्' कहलाती है। तीसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण दैवी सम्पद् के गुणों को उन्नत बनाने का निर्देश देते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, वास्तविक जानकारी तथा अनुभवी संचार

इत्यादि दैवी सम्पद् के छब्बीस लक्षणों का सविस्तार निरूपण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। इन दैवीगुणरूपी देवताओं की उन्नति द्वारा परमदेव परमात्मा शनैः-शनैः सुलभ होता है। क्रमशः उत्थान करते- करते जब दैवी सम्पद् परिपक्व होती है तो अव्यक्त परमात्मा भी विदित हो जाता है।

दूसरे देवता वे हैं जिनका संसार में प्रचलन है। बहुत पहले की एक गणना के अनुसार उनकी संख्या तैंतीस करोड़ थी और अब तक तो न जाने कितने और हो गये हैं। भूत, भवानी, धात्री, सावित्री, भैरव, ब्रह्म बाबा, डीह, चौरा इत्यादि असंख्य देवता नित्य बनते हैं और कुछ काल पश्चात् प्रसुप्त हो जाते हैं। इन्हीं की ओर इंगित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- बहुत से लोग मुझे छोड़कर कामनाओं से आक्रान्त होकर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं, वह पूजा अविधिपूर्वक है (गीता, ७/२०, ९/२३)। उनके चिन्तन की विधि गलत है, इसलिए वे फल तो पाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं कर पाते। वे फल नाशवान् हैं, इसलिए उनसे कल्याण नहीं हो सकता। (गीता, ७/२३)। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं लेकिन मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है (गीता, ९/२५)। ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं; परन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त भक्त का पुनर्जन्म नहीं होता। (गीता, ८/१६)।

वस्तुतः देवताओं का परमदेव परमात्मा से स्वतन्त्र न तो कोई अस्तित्व है और न पृथक्-पृथक् उनकी कोई सत्ता ही है। केनोपनिषद् की कथा है कि उस परमेश्वर की शक्ति के बिना अग्नि एक तिनके को भी जला नहीं सकती, वायु उस तिनके को उड़ा नहीं सकता। इसी रहस्य पर प्रकाश डालते हुए सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद् के चतुर्थ खण्ड में भगवान दत्तात्रेय ने साङ्कृति मुनि से कहा, ''महामुने! बाह्य तीर्थ से श्रेष्ठ आन्तरिक

तीर्थ ही है। शरीर के भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्य तीर्थों में गोता लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जैसे- मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार धोने पर भी ज्यों-का-त्यों ही रहता है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है। आत्मतीर्थ प्राप्त पुरुष के सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। मस्तक ही श्रीशैल है, ललाट केदार तीर्थ है, नासिका और भौंहों के मध्य काशीपुरी है, दोनों स्तनों के स्थान पर कुरुक्षेत्र है और हृदय कमल में तीर्थराज प्रयाग है। मूलाधार में कमलालय तीर्थ है। जो शरीर के भीतर स्थित इन तीर्थों का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकता है, वह हाथ में रखे बहुमूल्य मणि को त्यागकर काँच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिए योगी जल से भरे तीर्थों और काष्ठ आदि से निर्मित देव प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते। योगी अपने आत्मा में ही शिव का दर्शन करते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदय में भगवान के प्रति भावना जागृत करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गई है; किन्तु मुनिश्रेष्ठ! अज्ञानी मनुष्य के अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए तत्त्वदर्शी महात्माओं का चरणोदक सर्वोत्तम तीर्थ है।''

इस परमपथ की प्रवेशिका में सामान्य एवं सरल मनुष्य के समक्ष सर्वप्रथम देवी-देवता, मन्दिर-मूर्तियाँ, तीर्थ-व्रत ही पड़ते हैं जिनसे संस्कार बनता है, पुण्य बढ़ता है; किन्तु मनुष्य उन देवताओं को परमदेव परमात्मा से पृथक् एवं प्रत्येक देवता को एक दूसरे से भिन्न, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट मान बैठता है; वह ऋग्वेद की इस ऋचा को भूल जाता है कि **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।'**- एक परमेश्वर ही सत्य है, विप्रगण उसे अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं; क्योंकि किसी एक नाम से उस विराट् प्रभु की प्रभुता का बोध नहीं होता। सामान्य मानव देवताओं की अनेकता में निहित एकता को परखने का प्रयास नहीं करता, देवता की पृथक् सत्ता को ही गन्तव्य मान लेता है; इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं- उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती।

साधना के प्रारम्भ में मुझे भी एक देवता ही मिला; किन्तु तत्त्वस्वरूप महापुरुष (परमहंसजी) के अनुभवी प्रवेश के साथ ही वह शान्त हो गया।

वस्तुतः देवलोक को प्राप्त अन्य-अन्य देवता भी मरणधर्मा हैं। अपने पुण्य-पुरुषार्थ से स्वर्गलोक की प्राप्ति करनेवाले तथाकथित 'अमर' विशाल स्वर्गिक भोगों का उपभोग करने के उपरान्त **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** ***(गीता, ९/२१)***- पुण्य क्षीण हो जाने पर उसी मृत्युलोक में गिर जाते हैं। उसी स्थान पर आ जाते हैं जहाँ से साधन प्रारम्भ किया था। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? वह देव-तन भी किस काम का, जिसमें संचित पुण्य ही समाप्त हो जाय?

देवता तक मानव-तन से आशावान् हैं; क्योंकि मुक्त होने के लिए उन्हें भी मानव-तन प्राप्त करना होता है जबकि आपको मानव तन मिल चुका है। शरीर धारण के क्षेत्र में आप देवताओं से भी भाग्यशाली हैं, बड़े हैं, आगे हैं। देव, पशु इत्यादि भोग-योनियाँ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है; जिसके द्वारा वह उस परम धाम को प्राप्त कर सकता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता।

मरणधर्मा देवता हमारा लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य तो परमदेव परमात्मा ही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य उस स्वरूप से कभी विलग नहीं होता। यही वह पराकाष्ठा है जहाँ पहुँचकर मनुष्य देवताओं का भी देवता बन जाता है, श्रद्धालुओं में देवत्व की जागृति करनेवाला सद्गुरु हो जाता है।

अतः आप सभी परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर दैवी सम्पद् का अर्जन करें, दैवी प्रवृत्तियों को उन्नत बनायें।

।। ॐ ।।

'श्रीमद्भगवद्गीता' की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥13/22॥

वह पुरुष **उपद्रष्टा–** हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **'परः'** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' से साभार

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन (रेल्वे सब-वे के पास),
अंधेरी (पूर्व), मुंबई - ४०००६९, भारत
दुरध्वनी - ०२२-२८२५५३००
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com